वर्ष–2, अंक–6

मूल्य–30 रुपये

ISSN 2454-6879

देसहरियाणा

सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का मंच

गदरी फौजी बगावत में हरियाणा क्षेत्र के शहीद

इस अंक में विशेष

- प्रेम चन्द से दोस्ती
- शहीद उधम सिंह
- पारिस्थितिक संकट
- आरक्षण संघर्ष

ISSN 2454-6879

देसहरियाणा

सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का मंच

जुलाई-अगस्त 2016 वर्ष 2 अंक 6

सम्पादक : सुभाष चंद्र

सम्पादन सहयोग : जयपाल, कृष्ण कुमार
अमन वाशिष्ठ

सलाहकार : प्रो. टी. आर. कुंडू
ओम सिंह अशफाक
परमानंद शास्त्री

व्यवस्था: इकबाल, सुनील, विपुला

शब्द संयोजन : दविन्द्र सिंह सैनी

पता : देस हरियाणा
912, सैक्टर-13, कुरुक्षेत्र
(हरियाणा)-136118

मो. : 94164-82156

Email : haryanades@gmail.com
desharyana@gmail.com

ISSN NO 2454 - 6879

चंदे की दरें :

व्यक्तिगत : एक वर्ष 175 रुपए
तीन वर्ष 500 रुपए

संस्था : एक वर्ष 400 रुपए
तीन वर्ष 1 हजार रुपए

आजीवन : पांच हजार रुपए

संरक्षक : दस हजार रुपए

ऑनलाईन भुगतान के लिए
बैंक खाता : देस हरियाणा,
इलाहाबाद बैंक कुरुक्षेत्र
खाता संख्या : 50297128780
IFS Code: ALLA0211940

लेखकों द्वारा उनकी रचनाओं में प्रस्तुत विचार एवं दृष्टिकोण उनके अपने हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं। समस्त कानूनी विवादों का न्याय-क्षेत्र कुरुक्षेत्र न्यायालय होगा। सम्पादक एवं संचालन अव्यवसायिक एवं अवैतनिक। प्रकाशक, मुद्रक और सुभाष चंद्र की ओर से 912, सैक्टर-13, कुरुक्षेत्र, हरियाणा से प्रकाशित

इस अंक में

सम्पादकीय	हरियाणा का पचासवां साल, पूछै कई सवाल		2
कहानी	टेक चन्द	मोलकी	4
	ललित कार्तिकेय	हीलियम	43
उपन्यास अंश	ब्रह्मदत्त शर्मा	'ठहरे हुए पलों में'	30
युवा कलम	सुशीला बहबलपुर की कविताएं		28
कविताएं	उर्मिल मोंगा-9,	अरूण कैहरबां-47, गदर की गूंज	54
गीत	डॉ. आशुतोष -19,	महेन्द्र सिंह फकीर-49	
गजलें	दिनेश हरमन- 13		
लघु कथा	विजयदान देथा-49	रेनु शर्मा-80	
आलेख	वी.एन. राय	प्रेम चंद से दोस्ती	20
	राजविन्द्र चंदी	शहीद उधम सिंह	33
	सुरेन्द्र एस. जोधका	प्रभुत्व बरकरार रखने के लिए जाट संघर्ष	79
इतिहास के पन्नों से	वरियाम सिंह संधू	सिंगापुर की गदरी फौजी बगावत के शहीद	51
स्मृति शेष	अविनाश सैनी	जन कवि एवं लोक गायक-रामफल जख्मी	14
	मुद्राराक्षस	ब्राह्मण कर्मकाण्ड और ब्रेनवाशिंग	63
परिचर्चा	परमानंद शास्त्री	किताबें ज्ञान का प्रवेश द्वार हैं	16
संस्मरण	ज्ञान प्रकाश विवेक	एक अशांत अदीब की खामोश मौत	39
सामयिकी	महावीर शर्मा	कौन बनेगा अमरीका का राष्ट्रपति	48
पठनीय पुस्तक	डा. कृष्ण कुमार	पारिस्थितिक संकट और समाजवाद का भविष्य	71
लोक नायक	अमनदीप वशिष्ठ	गोगा पीर की कथा और हमारा समाज	75
खेतीबाड़ी	राकेश कुमार मालवीय	भारत में कृषि एवं सिंचाई व्यवस्था	50
हलचल	डा. सुभाष चंद्र	लेखक की हैसियत से ...सोना चौधरी	10
	मोहन रमणीक	'लोकनाद' का पैगाम : अनुभव व सबक	55
	धर्मवीर	ब्राह्मणवाद के खिलाफ हुई भीम गर्जना	57
	नुसरत	आमूल-चूल परिवर्तन की खातिर	58
	सुभाष गाताड़े	पवित्र किताब की छाया में	65
	बूटा सिंह सिरसा	राजा राम मोहन राय के सामाजिक सरोकार	59
	शेरचंद	इसी आकाश में व साडे वेखदियां	60
	डा. सुभाष चंद्र	कबीरा खड़ा बाजार में	60
	अविनाश सैनी	आबिद आलमी यादगार मुशायरा	61
रागनी	रामफल जख्मी 15, रणबीर सिंह दहिया 32,	मनोज पवार 'मौजी'	38
धमाचौकड़ी	बी. मदन मोहन		69
विज्ञान प्रौद्योगिकी	अविनाश उपाध्याय	रेत से प्रौद्योगिक क्रांति की ओर	70
बढ़ते कदम	गीता पाल	जीना इसी का नाम है	74
रेखाकंन	मनोज छाबड़ा	**पाठक पन्ना**	77

हरियाणा का पचासवां साल, पूछै कई सवाल

हरियाणा राज्य का पचासवां साल हैं। हरियाणा की बहुत सी उपलब्धियां हैं और विभिन्न क्षेत्रों में कई कीर्तिमान भी स्थापित किए हैं। यह साल हरियाणा के लिए अपनी उपलब्धियों को प्रदर्शित करने व उत्सव मनाने का अवसर है, वहीं अपने समाज की कमजोरियों को पहचानने का अवसर भी है। यदि हरियाणा के पचासवें साल का उत्सव स्टेज के रंगारंग कार्यक्रमों, अखबारों में सरकारी विज्ञापनों, इवेंट-प्रबंधकों द्वारा खुशहाली दर्शाते-बखानते मेगा कार्यक्रमों, तथा कुछ लोगों को पुरस्कारों तक सिमटकर रह गया तो हम अवश्य ही आत्ममूल्यांकन एक अवसर गंवा देगें।

पचासवां साल कुछ सवाल पूछ रहा है। अपने समाज में गड़बड़ता लिंग-अनुपात किस बीमारी का लक्षण है। धार्मिक प्रतीकों के लिए लोग मनुष्यों की हत्या करने लगते हैं। विज्ञान व डिजीटल तकनीक के युग में लोग अपनी समस्याओं के निदान के लिए बाबाओं के आशीर्वाद-चमत्कार, ओझाओं की भभूत-झाड़े, गुरुओं के गंडे-ताबीज पर भरोसा क्यों कर रहे हैं। मानव विकास के सूचकांक तथा आर्थिक विकास के सूचकांक में गहरी खाई के क्या कारण हैं।

शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार मुहैया करवाने वाले प्रतिष्ठानों की हालत दिनों-दिन खस्ता क्यों होती जा रही है। गांव अपने बाशिंदों को रोजगार नहीं दे पा रहे और शहर उन्हें ओट नहीं रहे। गांव-शहरों के दुत्कारे लोग प्रवासी-शरणार्थियों की तरह रहने पर विवश क्यों हैं। एक तरफ समृद्धि के अंबार तो दूसरी तरफ घोर कंगाली क्यों है। धर्म व जाति के आधार पर प्रशासनिक पक्षपात और भेदभाव किस सामाजिक बीमारी का लक्षण है।

पचास साल से जो काम उपेक्षित है - वह है हरियाणा के सांस्कृतिक-निर्माण का। संतों-सूफियों, पीरों-फकीरों की उदार परंपराओं तथा हाली पानीपती, बालमुकुन्द गुप्त जैसे आधुनिक संस्कृतिकर्मियों की चेतना से संपर्क स्थापित करते हुए ही यह संभव है। जाहिर है कि ये काम सिर्फ नैतिक अपील से होने वाले नहीं हैं, बल्कि इसके लिए संस्थागत तौर पर कदम उठाने की जरूरत है। स्वाभाविक है कि ये कदम व्यक्तिगत तौर पर नहीं, बल्कि राज्य व सरकार ही उठा सकती हैं।

फरवरी के महीने में सरकारी नौकरियों और शिक्षण संस्थाओं में दाखिले में आरक्षण के लिए हरियाणा में हुए हिंसक आंदोलन पर फिलहाल तो रोक लगी है। इससे हुए नुक्सान व इसके कारणों को जानने के लिए सरकारी तौर पर बने 'प्रकाश सिंह आयोग' तथा नागरिक पहल से बने 'जन आयोग' की रिपोर्ट भी सार्वजनिक दायरे में है। लेकिन आरक्षण का मुद्दा अभी समाप्त नहीं हुआ है, बल्कि इस हिंसक आंदोलन ने आरक्षण के सवाल को एक बार फिर बहस के केंद्र में ला दिया है।

वर्ग-स्वार्थों के कारण आरक्षण हमेशा से ही विवादास्पद विषय रहा है। भारतीय समाज में आरम्भ से ही समाज के उच्च वर्गों ने ज्ञान, सत्ता और संपति को अपने लिए वर्ण-जाति के आधार पर आरक्षित रखा। अपना एकाधिकार बनाए रखने के लिए कठोर कायदों, रिवाजों, नियमों, नैतिकता-मर्यादा की अवधारणा निर्मित की गई। आधुनिक काल में समाज के वंचित वर्ग के महात्मा जोतीराव फुले-डॉ आंबेडकर सरीखे विचारकों ने शोषणमूलक सामाजिक संरचना का गहराई से विश्लेषण किया और शिक्षा व सत्ता में उच्च वर्गों के एकाधिकार को चुनौती देते हुए दलित-पिछड़े वर्गों की भागीदारी की मांग की।

स्वतंत्रता के बाद सदियों से चली आ रही वंचनाओं को दूर करने, प्रशासन में भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए अनुसूचित जातियों व जनजातियों को सरकारी नौकरियों और शिक्षण-संस्थाओं में आरक्षण के लिए सैंविधानिक प्रावधान किए गए।

अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण तो नहीं किया गया, लेकिन धारा 340 के अन्तर्गत उनके विकास के लिए कदम उठाने को कहा गया। इसी के मद्देनजर 29 जनवरी, 1953 को काका कालेलकर की अध्यक्षता में पिछड़ा वर्ग आयोग का गठन हुआ। इस आयोग ने दो साल के गहन मंथन के बाद 30 मार्च, 1955 को रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसने पूरे देश में 2399 जातियों अथवा समुदायों को पिछड़े के तौर तथा इनमें से 837 समुदायों को अति पिछड़े के तौर पर चिह्नित किया।

आयोग की रिपोर्ट से पांच सदस्यों ने खुले तौर पर असहमति प्रकट की तथा केन्द्र सरकार को रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए अध्यक्ष महोदय ने प्रस्तावना में रिपोर्ट की मूल भावना व निष्कर्षों से असहमति प्रकट की। केन्द्र सरकार ने इस रिपोर्ट को नकार दिया। केन्द्रीय स्तर पर कोई सूची बनाने और केन्द्रीय सेवाओं में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के अलावा अन्य पिछड़े वर्गों को आरक्षण देने से इनकार कर दिया।

दिसम्बर 1978 में बी पी मंडल की अध्यक्षता में पिछड़ा वर्ग आयोग गठित किया। पिछड़े वर्गों की पहचान के लिए मंडल आयोग ने सामाजिक, शैक्षणिक तथा आर्थिक आधार पर 11 संकेतक चिन्हित किए। सामाजिक संकेतकों में प्रत्येक के लिए तीन अंक, शैक्षणिक संकेतकों में प्रत्येक के लिए 2 अंक तथा आर्थिक संकेतकों में प्रत्येक के लिए 1 अंक निर्धारित किया। कुल 22 अंकों में से जिस जाति को 11 अंक प्राप्त हुए उसे पिछड़े वर्ग की सूची में शामिल कर लिया गया। 31 दिसम्बर, 1980 को इस आयोग ने रिपोर्ट प्रस्तुत की। अप्रैल 1982 में संसद के पटल पर प्रस्तुत की। लेकिन सरकार की ओर से इस पर कार्रवाई की कोई रुपरेखा इसके साथ नहीं थी। लम्बे संघर्ष व जद्दोजहद के बाद यह रिपोर्ट लागू हुई।

योग्यता के भोंडे तर्क से, आर्थिक आधार पर आरक्षण की वकालत करके, समाज को विभाजित करने का भय दिखाकर, आरक्षण रहित वर्गों में ईर्ष्या-द्वेष-डाह पनपने के भय, आरक्षण नीति से आरक्षित वर्गों को विशेष लाभ न पहुंचने तथा सच्चे हकदारों को आरक्षण का

लाभ न मिल पाने आदि तर्कों का सहारा आरक्षण का विरोध किया जाता रहा है।

जाति की बजाए आर्थिक आधार पर आरक्षण की मांग प्रथमत: देखने में एकदम तार्किक, विवेकपूर्ण व प्रगतिशील विचार दिखाई देता है, लेकिन भला सा लगने वाला यह आधार सामाजिक भेदभाव, दमन व उत्पीड़न की तो अनदेखी करता ही है। ज्यों ही इसके व्यावहारिक पक्ष पर विचार करते हैं, तो यह समाज के पिछड़े वर्गों को मिल रहे आरक्षण का विरोध स्पष्ट तौर पर दिखाई देता है।

भारतीय समाज में जाति सिर्फ व्यक्ति की पहचान के साथ नहीं जुड़ी, बल्कि शक्ति का स्रोत रही है। जाति यहां व्यक्ति का पेशा, खान-पान, काम-धंधों, धार्मिक-सांस्कृतिक रुचियों को नियंत्रित और संचालित करती रही है। जाति-व्यवस्था के पिरामिड में सबसे नीचे वाली जातियों को अधिकारों से वंचित रखा गया। उनके हिस्से में श्रम करना था, उसके श्रम के फलों का स्वाद सवर्ण जातियों ने अपने लिए रख छोड़ा था। जाति-व्यवस्था की सामाजिक-वर्जनाओं ने समाज के बहुत बड़े भाग को ज्ञान, सत्ता और संपति से वंचित रखा।

आरक्षण-नीति के कारण शक्ति के स्रोतों में बंटवारा होना आरम्भ हुआ, तो विशेषाधिकार संपन्न वर्गों में त्राहि-त्राहि मच हुई है। अभी तक जो वर्ग जाति के आधार पर समाज की नियामतें भोग रहे थे, अब वे जाति के आधार पर बंटवारे को समाज को विभाजनकारी करार देकर आर्थिक आधार पर आरक्षण की वकालत करने लगे हैं।

पिछड़ेपन की पहचान सिर्फ आर्थिक आधार पर ही नहीं की जा सकती, बल्कि सामाजिक, शैक्षणिक और राजनीतिक आधार पर भी जातियां और समुदाय पिछड़े होते हैं। यदि किसी एक श्रेणी के आधार पर पिछड़ा मानकर आरक्षण दे दिया जाए, तो समाज के जो वर्ग अथवा समुदाय अन्य शक्तिशाली होंगे तो वे वर्ग अथवा समुदाय ही आरक्षण का लाभ उठा पायेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि अन्य मामलों में जो समुदाय पहले ही अपेक्षाकृत शक्ति-संपन्न हैं, वही फलेंगे-फूलेंगे।

शिक्षण संस्थानों में आर्थिक आधार पर 15 प्रतिशत सीट आरक्षित हैं। महिलाओं के लिए भी बिना किसी जाति, धर्म, लिंग, नस्ल का भेदभाव किए नौकरियों में आरक्षण की व्यवस्था की गई है। कुछ अपवादों को छोड़कर, राज्य सरकार के अधीन सभी नौकरियां उसके अधिवासियों के लिए आरक्षित हैं। स्वतंत्रता सेनानियों के बेटे/बेटियों/पोते/पोतियों के लिए, शारीरिक रूप से विकलांग, खेल हस्तियों के लिए भी शिक्षण-संस्थाओं में प्रवेश तथा सरकारी नौकरियों में आरक्षण के प्रावधान हैं।

आरक्षण से जातिवाद को बढ़ावा मिलता है यह एकांगी एवं भ्रांतिपूर्ण सोच पर गढ़ा गया तर्क है, और इसमें वर्गीय पूर्वाग्रह भी शामिल है। स्वतंत्रता के बाद अपनाई गई धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक शासन प्रणाली को बनाए रखने के लिए सामाजिक और आर्थिक समानता की स्थितियों का निर्माण करना जरूरी था। संविधान निर्माताओं ने समाज के सभी वर्गों को प्रशासन में प्रतिनिधित्व देने तथा जातिगत पूर्वाग्रहों व जातिगत अलगाव को समाप्त करने के लिए सरकारी नौकरियों और शिक्षण संस्थाओं में आरक्षण की व्यवस्था की थी।

जो लोग समाज में जातिवाद को बढ़ता हुआ देख रहे हैं और उसका कारण आरक्षण को ठहरा रहे हैं, उन्होंने अपने परिवेश की ओर से आंखें बन्द कर रखी हैं। ध्यान देने की जरुरत है कि सन् 1991 के बाद वैश्वीकरण की नीतियों से रोजगार-बाजार सिकुड़ा है। आर्थिक असमानता बढ़ी है। जातिवाद और असमानता का गहरा संबंध है। आर्थिक शोषण और असमानता का परिवेश जातिवाद पनपने के लिए बहुत ही मुफीद होता है। राजनीतिक पार्टियों के पास जनता के जीवन की बेहतरी के लिए कोई कारगर योजनाएं नहीं हैं। आज सत्ता प्राप्त करने वाले राजनीतिक दलों के लिए जाति के आधार पर जनता की गोलबंदी सबसे आसान और सुरक्षित रास्ता है। इसके लिए वे जाति के सम्मेलन करते-करवाते हैं। जाति के कथित नेताओं को राजनीतिक दलों में पदाधिकारी बनाया जाता है। टिकट देते वक्त क्षेत्र के जातीय समीकरणों का पूरा ख्याल रखा जाता है। जाति की धर्मशालाओं व अन्य संस्थाओं को खुलकर चन्दा दिया जाता है।

कुलीन हितों के पोषकों का बहुत ही भोंडा तर्क है, कि आरक्षण शिक्षण-संस्थाओं व प्रशासन की योग्यता और गुणवत्ता को नकारात्मक रूप से प्रभावित करती है। इससे यह भ्रम पैदा करने की कोशिश करते हैं कि योग्यता और प्रतिभा उच्च वर्गों की बपौती है। मेरिट या योग्यता का अवसरों की उपलब्धता से गहरा संबंध है। यदि किसी समाज को अवसर नहीं मिलेंगे तो उनमें वांछित योग्यता भी विकसित नहीं होती। जिस समाज को जो अवसर मिले, उन्होंने वैसा करने की योग्यता पैदा की। समाज के वंचित वर्गों को जब अवसर मिला, तो वे योग्यता की कसौटी पर खरे उतरे हैं।

विशेषतौर पर जिस तरह की योग्यता की बात करते हैं। वह एक छलावा है। नौकरियों के लिए परीक्षाओं में सामान्य ज्ञान के नाम पर जो प्रश्न पूछे जाते हैं, वे आभिजात्य समाज से संबंध रखते हैं। आभिजात्य समाज की संस्कृति और जरूरतों की जानकारी को ही ज्ञान माने जाने वाली परीक्षा में पिछड़े तथा सामान्य वर्ग के ग्रामीण छात्र निश्चित रूप से शहरी आभिजात्य के मुकाबले में अच्छा नहीं कर सकते।

आरक्षण समान अवसर तथा कुछ वर्गों का वर्चस्व समाप्त करने का माध्यम हो न कि खोये हुए विशेषाधिकार और वर्चस्व स्थापित करने का।

इस अंक में टेकचंद की कहानी 'मोलकी' खरीदकर लाई वधुओं की पीड़ा को व्यक्त करती है। इन महिलाओं को पत्नी के हक नहीं मिलते, वे काम करने व सेक्स मशीन बनकर रह गई हैं। ललित कार्तिकेय की कहानी 'हिलियम' उपभोक्तावादी जीवन की विडम्बनाओं को उजागर करती है।

उत्तराखंड त्रासदी पर केंद्रित ब्रह्मदत्त शर्मा के सद्य प्रकाश्य उपन्यास 'ठहरे हुए पलों में' का अंश है। सुशीला बहबलपुर व उर्मिल मोंगा की कविताएं, डा. आशुतोष व महेन्द्र सिंह 'फकीर' के गीत हैं। रणबीर सिंह दहिया, सत्यवीर नाहड़िया, मनोज पवार 'मौजी' की रागनियां हैं। रेनू शर्मा की लघुकथा है।

प्रेमचंद की कहानियों के माध्यम से उनकी विचारधारा को व्यक्त करता विकास नारायण राय का 'प्रेमचंद से दोस्ती' आलेख है। राजविन्द्र चंदी का 'शहीद उधम सिंह' के जीवन व बलिदान पर केंद्रित लेख है। हरियाणा के होनहार लेखक ललित कार्तिकेय पर केंद्रित संस्मरण 'एक अशांत अदीब की खामोश मौत' में ज्ञान प्रकाश विवेक ने ललित कार्तिकेय के जीवन-संघर्ष को रेखांकित किया है।

'इतिहास के पन्नों से' हरियाणा क्षेत्र के गदर आंदोलन के शहीदों व अन्य कठोर सजा प्राप्त स्वतंत्रता सेनानियों की सूची है।

'लोकनायक' गोगा पीर की कथा की वर्तमान संदर्भों में प्रासंगिकता को अभिव्यक्त करता अमनदीप वासिष्ठ का आलेख है। आरक्षण के लिए हुए हिंसक आंदोलन के कारणों की पड़ताल करता सुरेन्द्र एस जोधका का लेख है। सांस्कृतिक-साहित्यिक हलचलों की रपट हैं। 'धमाचौकड़ी' में बी. मदन मोहन की कविताएं हैं। जैसा बना, अंक आपके हाथ में है ...

सुभाष चंद्र

मोलकी

टेकचन्द

कहने को दिल्ली, पर दिल्ली-हरियाणा बार्डर से सटा गांव। बोली, बाना, रिवाज और लोग सब हरियाणवी। हल्की गर्मियों की सांझ चार बजे का समय है।

मोहल्ले में सब अपने रोजमर्रा के काम निपटा रहे हैं। औरतें भैसों को नहलाकर उनका खूंटा बदल रही हैं। कहीं उनका गोबर तसले में भरकर, सिर पर रखकर फेंकने जा रही हैं। आठ-दस-बारह साल की लड़कियां झाड़ू बुहारी कर रही हैं। कहीं गैस तो कहीं लकड़ी, उपलों का चूल्हा जल रहा है। मर्द, कोई नौकरी से आ गया है तो कोई आने वाला है....संभवत: पी कर आए। लड़के, निठल्ले से खेल-कूद और गुटबाजी में व्यस्त हैं। बालक गलियों में कुदान मारते कुत्तों और सुअरों के साथ स्पर्धा सी कर रहे हैं। इनको तेज हॉर्न देती मोटर साइकिलें भी आ-जा रही हैं। मकानों के छज्जों के नीचे तथा चौतरों-चबूतरों पर जमी ताश की महफिलों की जोड़ियां धूप कम होते ही खुले में ही बाजियां लगा रही हैं। गांव-घर और गलियों में लड़के ज्यादा हैं, लड़कियां लगभग नहीं हैं, यदि हैं तो चूल्हे-चौके के बावजूद पढ़ने-लिखने की कवायद में जुटी।

इसी मोहल्ले में रहती है माया। तीन जवान पर खाली बेटे, पति रामचन्दर उद्योग विहार (इंडस्ट्रियल एरिया) की फैक्ट्री में चौकीदार पर पियक्कड़, लापरवाह। इसलिये लोग बच्चों को माया के ही कहते।

'माया का छोरा मोल की ले आया'

'कौण सा? बीच वाला? वो तै पहलां ही मोल की ले आया था... इब के बड्डा वाला ले आया...?'

'आंय हा ऽ ऽ... यो तै बड़ा जुलम होया... ईब बिचारी पहलड़ी के करेगी...? दूसरी कित तै ल्याया माया का...?''

'बेरा ना बेब्बे... चाल देख कै आवैं... माया कै चाल्लैं...'

सारे मोहल्ले की औरतों में लगभग यही चर्चा थी।

मर्दों में भी ऐसी ही बातें हो रही थीं।

'ओर भई धरमबीर...? सुणा है के तेरे ताऊ का छोरा एक ओर मोलकी घरवाली ले आया सै...?

'हाँ चाच्चा ले तै आया है...'

'कित तै ल्याया...? पहलड़ी तै बिहार की थी न रै... अर यो...'

'यो वाली... शैद (शायद)... झैरखंड... या उड़ीसा-पुड़िसा... की है चाच्चा...'

'कितणे रपिये मैं...?' स्वर नरम और बदला हुआ था

'बेरा ना चाच्चा...' आवाज़ में शरारत तैर गई

'तू ऐ बूझ लिये चाच्चा... कितणे म्हं... अर तेरी खात्तर तै कोई बुड्ढी-ठेरी पाँच-सात हजार मैं आ जावैगी...'

कहकर उसने जोर का बनावटी ठहाका लगाया साथ ही पूछने वाला मां की गाली ना दे यह जानकर जोर से भागा। फिर भी कुछ शब्द कानों में पड़ ही गए।

'मेरी खात्तर तै तेरी मां बी चाल जावेगी... फिरी मैं तेरी मां...'

लगभग हर उम्र का यही हाल था। सब जानना चाहते थे कि कहाँ से? कितने में? ओर बात बण ज्यावेगी के...? वगैरह, माया का आंगन औरतों से भरा हुआ था। लगभग सौ-सवा सौ गज के आयताकार प्लॉट में एक तरफ दो कमरे बने हुए थे। अगल-बगल बने कमरों के आगे लोहे की चद्दरों से बना बरामदा सा छा रखा था। आगे कच्चा आँगन, उसमें एक शहतूत का मंझोला जवान-सा पेड़ और नीम का बुढ़ा दरख्त। नीम के इर्द-गिर्द औरतों का जमघट लगा था। वहीं नीम के भारी तने से सटी प्लास्टिक की कुर्सी पर बैठी थी, दुल्हन सी बनी एक सोलह-सत्रह साल की लड़की।

गेहुआं सा रंग, बड़े छापे की लाल साड़ी, बिवाई फटे थप्पड़ों से पांवों में सस्ती सैंडिल, बेमेल सी नेल पॉलिश, पांव कुर्सी के नीचे खिसकते, जगह खोजते से। बेचैन हाथ बार-बार साड़ी के पल्लू को सिर पर लेने का प्रयास करते, पॉलिस्टर का होने से पल्लू फिर-फिर फिसल जाता। नाक सुड़कती, पसीने की खारी-खारी गंध को सस्ते तीखे सेंट से दबाने का अहसास कराती महक। बीच-बीच में बेचैन नज़रों को ऊपर उठाती और खड़ी औरतों के घेरे को बेधकर अन्दर के कमरे की तरफ देखकर सहम सी जाती। अन्दर से झगड़ने की आवाज़ें आ रही थीं, माया, मंझला लड़का और पहले वाली पत्नी की आवाजें बाहर आ रही थीं। कभी माया का डाँटता सा स्वर, कभी लड़के की गुर्राती आवाज़, कभी पुरानी दुल्हन की रोते-सुबकते चीख-पुकार।

'कपार फोर दे दारी के... मर के हमऊं घर बनाएं... अऊर मलकिनियां ऊ-बने... बच्चा ना हुई तो हमार का कुसूर... हम कब मना किन्ह डाग्दर को दिखाइबे को... अपना तो दवा करवाता नहीं...'

'चुप्प रह हरामजादी... देही तोड़ दूंगा साली की... तेरी मा...' और फिर धमाधम उठा-पटक की आवाजें। तेज चीख।

'छोरे मान ज्या... नास हो ज्यावेगा... अरै कती ए सरम भाझरी सै के...' माया का आशंकित स्वर।

''हड़े ए धरती का बिचाला बणा राख्या सै... अपणे बालकां नै तै देखती कोन्या दुनिया... आ गी यहां चौधरण बण कै... इनके बालक घर म्हं ऐ तै ना ला रे... राख तै राखी है... पड़े रहवै हैं दिन रात नट कलोनी म्हं...' बड़बड़ाती माया बीच-बीच में बाहर आती, टिन से छा कर बने बरामदे में रखे मटके से पानी भर ले जाती...कभी

सूती कपड़ा फूंककर उसकी राख ले जाती संभवत: सिर फूट गया होगा बहू का। औरतें कनखियों से हँस रही थीं। आसपास की छतें भरी हुई थीं। बच्चे खास तौर पर बारह तेरह साल की लड़कियां अपनी छत की मुंडेर पर औंधी सी लेटी माया के आँगन में झांक रही थीं, मानों सीधा प्रसारण देख रही हों। बड़ी बूढ़ियां उन्हें बनावटी स्वर में डांट-डांटकर भगा रही थीं। और फिर आसपास की औरतों को देखते ही मुँह दबाकर हंसती। छोटे बच्चे मन-वाणी के इस भेद के अभ्यस्त थे।

'नीच्चै मर ज्या... अर चून उसण ले (आटा गूंध ले) आंवता होवैगा तेरा बाप... फेर गाल (गाली) देवैगा...'

'ऐ छोरी तलै पड़ ले... के तमासा बणा राख्या सै... चाल चूल्हा बाळ (जला) ले... चाह चढ़ा ले... दाद्दा की चाह ना गई सै पिलाट (प्लॉट) मैं आज ...''

'थारी मां नाच्चै सै हड़ै (यहां)... चाल्लो भाज्जो (भागो)' माया आंगन में प्रकट हुई और छतों की तरफ देखकर चिल्लाई। कुछ बच्चे पीछे हट गए। माया का सिर नीचे होते ही खिलखिलाते फुसफुसाते फिर मुंडेरों पर चिपक लिये।

माया पैंतालीस-पचास के फेर में है, इकहरा चटकेदार शरीर है, लेकिन लगती जवान है। उसके मुकाबले पति रामचन्दर झुग्गियों में चौबीसों घंटे मिलने वाली सस्ती व मिलावटी पी पीकर बेहद बूढ़ा और लगभग माया का बाप लगता है। माया, सस्ती भड़कीली लिपस्टिक, बड़ी बिन्दी, मांग में ढेर सारा सिन्दूर, पांवों में गुलाबी आलता, (महावर) और चालू फैशन के सूट में बच्चों की मां कम उनकी बहन ज्यादा लगती। माया दनदनाती सी आँगन में आई, नीम की तरफबढ़ी तो औरतों की भीड़ काई की तरह फटती सी चली गई। माया सीधी नीम नीचे प्लास्टिक की कुर्सी पर घबराई सी बैठी नववधु के करीब आई। वह और घबरा गई।

'ऐ! इसनैं तेरे तै ना बताई थी अक पहलां ही एक ब्याह हो रहया सै इसका...?'

माया के सवाल पर नववधु और डर गई। हकबकाकर इधर उधर देखने लगी और रूंआसी होकर कुर्सी से उठ गई। भीड़ में से एक नई सी बहू दुभाषिये की तरह आगे आई।

'बूझती है... आपको सतीस की मैरिज... शादी का पता ना था के... वाक्य पूरा करते-करते बहू भी स्थानीय टोन में आ गई

'सादी... किया... मंदिर में...' वह लड़खड़ाती सी पहली बार बोली

'नाम के है तेरा...?' माया ने झुंझलाकर पूछा

'दादा को बीस हजार टका दिया...' माया का अगला सवाल वह सुन नहीं पाई और पहले जवाब के साथ यह भी नत्थी कर दिया।

'चुप कर हरामजादी!' माया ने

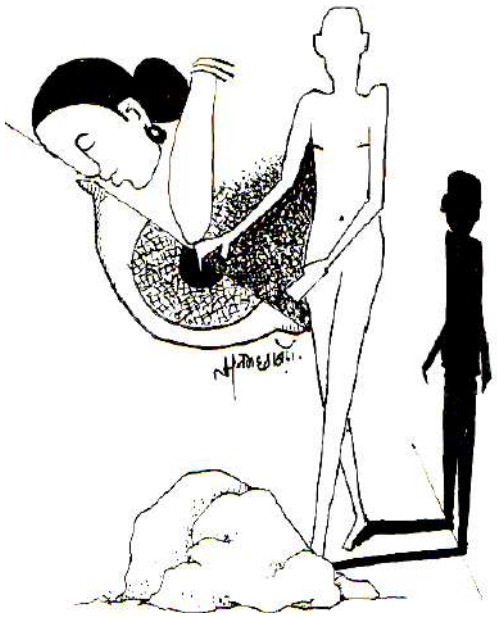

चिल्लाकर पैसे वाली बात दबा देनी चाही।

'नाम... मामूनी...' वह किसी तरह बोल पाई। लेकिन नाम सुनने के लिये माया रूकी नहीं तुरन्त अन्दर की तरफ लपकी। अन्दर से फिर मारपीट की आवाजें आने लगी थीं। पहली दुल्हन बाहर आना चाह रही थी। सबने देखा वह दरवाजे पर प्रकट सी हुई और फिर बाल पकड़कर भीतर घसीट ली गई। दरवाजे की चौखट को कसकर पकड़े हुए उसका हाथ फिसलता हुआ सा कोठरी के अंधकार में लुप्त होता चला गया। मोहल्ला भर यहीं जमा हुआ था। लेकिन धीरे-धीरे भीड़ छंटने लगी थी इस मोहल्ले, गाँव और खासकर बॉर्डर पार के गांवों का लगभग यही हाल था। बेरोजगार, निठल्ले और बुढ़ाती उम्र के लड़कों का ब्याह नहीं हो पा रहा था। कुछ घर से जुगाड़ कर, कुछ बेच-कमा कर, दूसरे राज्यों से दुल्हन खरीदकर ला रहे थे। मंदिर में शादी की रस्म अदा होती, जिसका खर्च दूल्हा उठाता और दुल्हन के बाप को दस-बीस हज़ार नकद देकर मोल-सा चुका कर दुल्हन को विदा करा लाता। नकद, मोल की होने के चलते इनके अपने नाम गुम से गए। नाम और सम्बोधन तक 'मोल की' हो गए।

सांझ गहराकर रात की स्याही में गुम हो रही थी, तमाशबीन औरतें कई-कई बार अपने घरों का चक्कर लगा चुकी थीं। खा-पीकर बच्चों को संभाल आतीं और फिर मुफ्त का मनोरंजन।

ऐसे ही एक छत से झांकती कुछ टीका-टिप्पणी सी करती धन्नो से माया उलझ पड़ी, 'ऐ धन्नो! तू तै सरम कर! सारा गाम जाणैं सै के तेरा आदमी अर छोरा सारी हाण वहां नटां की बस्ती मैं पड़े रहवै सैं... म्हारा कम तै कम घर तै बसा रहया सै...'

'रहण दे! तू भी बोल्लै...' धन्नों मुंडेर पर से कूदने को हुई और चीखी। वह कह तो माया को रही थी पर सुनाना सबको चाहती थी। ताकि वो सब सुन लें जो आंगन गली और आसपास की छतों पर मौजूद थीं। साथ ही वह चाहती थी कि अपने-अपने घरों की पैड़ियों (सीढ़ियों), चौंतरों-चबूतरों पर दो-तीन-चार की जोड़ियों में बैठे बीड़ियां फूंकते, 'पीते-खाते' कान-ध्यान यहां लगाए मर्द भी सुन लें। धन्नों फाड़-खाने वाले हाव-भाव से दहाड़ी ''म्हारा लुगाई के साथ तै रहवै सै... तेरा बड्डा छोरा हिजड़ी के साथ रहण लग रहया... उस्से की कमाई खावै... अर छोट्टे आला तै आप्पे रांडिया हो रहया सै... ना वा मरदां मैं ना लुगाइयां मैं... हांडै जावै सै ब्याह-बरातां मैं छोरियां के लत्ते पहर कै नाचता... आच्छी लीक काढ्ढी...' हाथ नचाते हुए पैंतरा बदल-बदलकर बोलते हुए लग रहा था कि वह माया के आंगन में अब कूदी कि तब कूदी।

आगे दोनों महिलाएँ एक-दूजी को उघाड़ती-पछाड़ती रहीं और आसपास की औरतें टेक सी देती रही।

'आं हे... साच्ची?'

'ओह... हो ऽ ऽ'!

'ठीक कहवै सै बहाण...'

'हाँ सुणी तै हमने बी सै...'

'चच्ची... ची... बड़ा जुलम...'

दी जा रही टेक की ऐड़ को माया और धन्नो समझने लगीं जल्द ही दोनों एक ही पाले में आ गईं और फिर बिना नाम लिये गाँव-मोहल्ले की छींटम-छींट करने लगीं, लपेटने लगीं।

'म्हारे नै तै मोलकी ल्या कै घर बसा लिया... अर उनका के जो उनपै धन्धा करवाण लाग रे सैं...'

'ऐ करवाण वालां नै तै अपणी ब्याही ल्यायी लुगाई बी डोर पै लगा राखी सै... उन तै तौ धन्धे वाली चोखी... मरद तै दारू-सराप (शराब) प्याऐ जाओ अर आप यारां के साथ गुलछर्रे उड़ाए जाओ... गाम नै ना दिखै हमनैं तै दिखै है के मरद बैठक मैं बोतल खोल कै बैठ ज्यां अर लुगाई भीत्तर की कोठड़ी मैं किसे-किसे नै लिये पड़ी रहवै... घर ऐ रंडी खान्ना बणा राख्या सै... बहार जाण की के जरूत...?'

'हाँ लोग पोत्ते-पोत्तियां अर धेवते-धेवतियाँ के हो लिये फेर बी मोलकी ल्या रे हैं... कोई पिलाट मैं बसा राखी सै कोई झुग्गियाँ मैं गेर राखी सै हमनैं के नां बेरा...?'

धन्नों और माया की हर बात तीर की तरह कलेजों में लग रही थी। पिघला शीशा बन कानों में जा रही थी। भीड़ छंटने लगी। जैसे तीर-गोली खाकर सिपाही मैदान छोड़ते जाएं। गली में बीड़ी फूंकते मर्द उठ उठकर गालियाँ बुदबुदाते चल दिये... कोई खेत तो कोई चौपाल की ओर। मुंडेरों पर जमी लड़कियाँ औरतें अपने-अपने घरों में उतरने लगीं। एक तीर से कई-कई शिकार हो रहे थे। अब नीम के नीचे प्लास्टिक की कुर्सी पर बैठी दुल्हन के आस-पास पाँच-सात बच्चे (लड़के) ही बचे थे।

'भाज्जो हड़े तै! थारी माँ नाच्चै सै यहाँ? हडै ए धरती का बिचाला सै...' माया ने धमकाया तो बच्चे खिलखिलाते से भाग खड़े हुए।

'ऐ चाह-पाणी तै प्या दे बिचारी भूखी-तिसाई (प्यासी) होवैगी... सारा दिन हो लिया... सै तै किसे की बहाण बेट्टी... बेमात्ता नैं किस्मत ए इसी लिख राखी थी जिब...' धन्नों भीगे स्वर में बोली। माया का मन भी पसीज गया। उसके चेहरे पर ममता सी तैर गई। मटके की तरफ बढ़ी, पहुँचती तब तक उसका लड़का बाहर निकल आया और सीधा कुर्सी के पास आकर बोला-

'चाल!'

दुल्हन में जैसे जान सी आई और दुखती सी देह के साथ उठ खड़ी हुई।

चौबीस-छब्बीस साल का संवलाता-सा यह लड़का लगभग पाँच फुट सात-आठ इंच लंबा पतला सा था। लेन-देन में मिलने वाले सस्ते कपड़ों का सैट सिलवाकर पहना हुआ था। क्रीम कलर की पैंट और पीली-सुनहरी चमकती धारियों की क्रीम सी ही पूरी बाजू की शर्ट, जिसमें जगह-जगह बीड़ी के पतंगे गिरकर तिल-मस्से जैसे छेद बने हुए थे। बैल-बाटॅम सी पैंट पर गोल्ड स्टार के स्पोर्टस शूज, शर्ट टंगाकर रखी थी। चमड़े की चौड़ी लाल बैल्ट कसकर बांध रखी थी। कमर पतली थी, पैंट-शर्ट फूलकर लिफाफा सी हो गई थीं। आश्चर्यजनक रूप से बाल सीधे काले और घने थे जो किसी भी फैशन पसन्द शहरी के लिये ईर्ष्या का विषय हो सकता था।

लड़के ने दुल्हन का हाथ पकड़ा और घर-आँगन से लगभग खींचता हुआ सा बाहर ले चला। गली लोगों से भरी थी। हाथ छोड़कर वह आगे-आगे हो लिया, दुल्हन पीछे-पीछे चलने लगी।

'बिहारण है...?'

'बंगालण लाग्गै...'

'मंदरासण सी लाग्गै सै...'

'हैं!? वे तै काले होवै से...' मध्धै परदेस की लाग्गै...' औरतों की कानाफूसी सरेआम बयान हुई जा रही थीं लड़का तेज चल रहा था। वह इन गलियों का अभ्यस्त था। दुल्हन पीछे ठोकर खाती लड़खड़ाती सी चल रही थी। आसपास देखती तो पाँव गड्ढे में पड़ जाता और नीचे देखती तो लड़का किस गली मुड़ता देख नहीं पाती।

'कित ले ज्यावैगा?'

'किते तै राखेगा...'

'नटां की बस्ती मैं किराये पै राख देगा...'

'हां वहां ए बसेगी ईब तै...'

औरतें कयास लगा रही थीं और मामले का पटाक्षेप जान घरों में घुस रही थीं। टी.वी. सीरियल का टाईम भी हुआ जा रहा था।

इधर माया की सरगर्मी आंगन में बढ़ चली थी। चूल्हा जला दिया। एल्युमिनियम का बड़ा पतीला हैंडपंप से भरा और गर्म होने को चूल्हे पर रख दिया। औसारे (बरामदे) में रखी गैस पर छोटा पतीला चढ़ा दिया और आवाज़ लगाई।

'चाल हे! पाणी निवाया हो लिया है नहा ले! चाह बणा री हूँ... गरम-गरम चाह पी लिये...' अन्दर से आ रही हल्की कराहटों से लापरवाह सी माया खाट पर बैठकर प्याज छीलने-काटने लगी, और बीच-बीच में आवाज़ भी लगाने लगी -

'ऐ उठ बी ले... गया नै ईब तै उसनै छोडण... चाल रोट्टी बी बणाणी है.. बीर-मरद मैं कहासुणी तै होत्ती रहवै है... चाल... गाम मैं हर घर की यो ही कहाणी है... तू के न्यारी राणी राजकमारी सै किते की...?' प्याज की जलन से माया की आँखों का काजल बह चला। मुंडेरों पर बैठे इक्का दुक्का बच्चों के लिये माया का 'रोना' कुतुहल का विषय था। 'चार साल हो लिये... एक आध बालक-नान्हा हो जात्ता तै छोरा क्यूं ल्यांवता दूसरी मोल की...? बंसबेल तै चालती... कोई दीवा बालण वाला हो जात्ता तै...' माया कभी प्यार से तो कभी रूखे गले से बड़बड़ाए जा रही थी।

'अन्दर के कमरे से बहू बाहर आई। एकदम वैसी जैसी अभी आंगन में कुर्सी पर बैठी थी। मानो वही थोड़ी बूढ़ी होकर आ गई। लड़खड़ाई तो चौखट को पकड़ लिया मैला कुचैला सूट, चेहरे पर नोच खसोट और नील के निशान थे। सिर पर पुरानी सूती चुन्नी पट्टी के तौर पर बंधी थी। मंझोला सा कद, कमजोर देह और लड़खड़ाते कदमों से वह नीम की तरफ बढ़ी, जहां...पांच फुटी दीवार की ओट को टीन से ढंक दिया गया था। लकड़ियाँ और सूखी टहनियाँ उस पर पड़ी थीं।

'सिर पै लत्ता तै ले ले... कती ए सरम भाग री सै...?'

माया ने झिड़की दी।

रात तक चीजें सामान्य सी होने का आभास देने लगीं। तब तक कई लड़के माया के मझले लड़के को पूछकर जा चुके थे। कई औरतें आईं और हवा लेकर गईं -

'कहां तै?'

'कितणे की...?'

'पहलड़ी कितणी कमेरी सै फेर दूसरी क्यूं ल्याया?'

'आजकाल तै एकै ना निभती... दूसरी नै किस तरियां पुगावैगा (निभावेगा)...'

'म्हारे बिकरम की बी बात बणवा देता किते...? जो लागेगा दे दूंगी... अर

भाड़ा-खर्चा बी...? वगैरह-वगैरह।

देर रात तक मंझला पीकर लौटा बरामदे में एक झटोल सी खाट में पिये पड़े बेसुध रामचन्दर की बगल वाली खाट पर पसर गया। आहिस्ता से एक कमरे का दरवाजा खुला। उसकी पत्नी थी।

'ख..खा...ना...?' टूटती पिटी सी आवाज़ में पत्नी ने पूछा। उसने भद्दी सी गाली दी और लेट गया। दरवाजे से लौटकर वह अपनी खाट की तरफ बढ़ गई, बगल के कमरे से खांसने की जनाना आवाज़ आ रही थी, यह माया थी जो बीड़ी पी रही थी और खांस रही थी। माया उठकर बाहर आई, खर्राटें भरते, थूक बुदबुदाते से पति को देखा... करवटें बदलते बेटे को देखा, अन्दर के कमरे में खाट पर बैठी बहू को देखा और आंगन में बनी ओट की तरफ बढ़ गई। सुबह हुई और दिन फिर अंगड़ाई लेकर चल पड़ा।

रामचन्दर को उठते ही तलब लगी और सांसियों की झुग्गियों की तरफ निकल लिया। माया बोलती बकती रह गई कल की राड़ पर बात करना चाहती थी, पर रामचन्दर लक्ष्य सा साधकर निकलता चला गया। मझला लड़का फिर पत्नी से उलझ पड़ा और बस्ती की तरफ चल पड़ा। रह गईं माया और बहू।

माया बरामदे में खाट पर बैठी थी, बहू प्लास्टिक की एक चौकी पर। दोनों स्टील की गिलासियों में चाय पी रही थीं और चाय में डुबो-डुबोकर रस खा रही थीं

'तो हमहूं का करें...? बच्चा ना हुई तो हमरी का गल्ती?'

'ऊपर से ऊ...'

'करणा के है... घर तेरा है... तू रह ठाठ तै...? माया ने उसे अनुभव-पगी सलाह दी। इसमें आदेश भी था।

'धक्के खा कै आवैगा तै यहां ए... वो पड़ी रहवैगी किते किराये-सिराये पै... किते फैकटरी-वैकटरी मैं लाग ज्यावैगी तै और आच्छा...' कहते-कहते माया ने छत की तरफ देखा। छोटा लड़का अपनी गूदड़ी-चद्दर कांख में दबाए लकड़ी को सीढ़ी से नीचे उतर रहा था। पतले नाजुक शरीर का यह लड़का माया की छाया लग रहा था, लड़की होती तो ऐसी ही होती।

'चाह दिये छोरे नै...!' माया ने बहू को आदेश दिया तो वह अपनी गिलासी की चाय में अधखाया रस डूबा छोड़कर उठ गई और गैस-चूल्हे की तरफ बढ़ गई। छोटा लड़का सफेद टी-शर्ट और जींस की निक्कर पहने था। उम्र उन्नीस-बीस पर गोरे-गोरे हाथ पाँवों पर बाल नहीं थे। वह माया के साथ खाट पर पांयताने की तरफ बैठ गया। कंधे तक के लंबे बाल जिनमें रंगी हुई सुनहरी लटें भी थीं, उंगलियों से कंघी सी कर गर्दन के पीछे ले जाने लगा खाट के सिरहाने की रस्सियों में से दबी पड़ी एक रबर बैंड उठाई, दाँतों में दबाई और दोनों हाथों से एक गुत सी बनाकर उनमें डाल दी। उसके नाजुक, लरजते हाथों द्वारा की जा रही इस कार्यवाई को माया निहारे जा रही थी, फिर तन्द्रा सी तोड़ बहू को लक्ष्य कर बोली 'चोखी सी गरम कर दिये चाह... कदे भाप उठते ई घाल कै दे दे...।'

सुबह के दस बजे हैं। माया के घर में अज़ीब सी शांति है। आसपास के घरों की औरतें अपनी-अपनी पैड़ियों पर बैठी हैं। मुश्किल से सात-आठ फुट चौड़ी

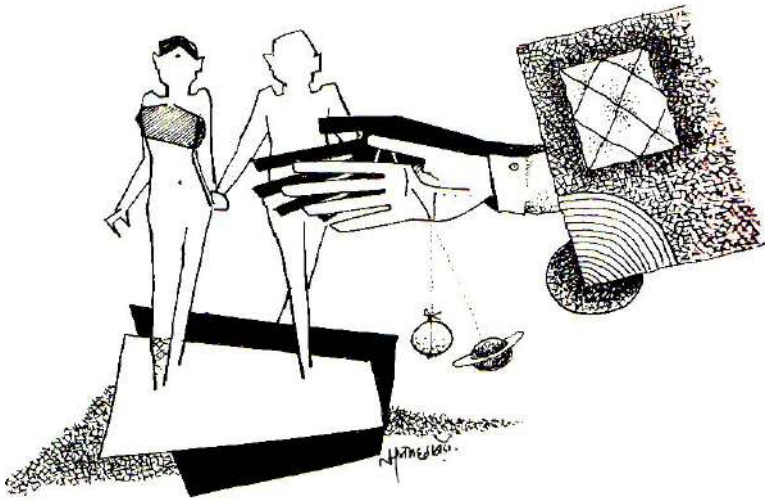

यह गली माया के एक घर बाद बन्द हो जाती है। ये बन्द गली के आखिरी मकान हैं। यहां से आगे कोई नहीं जाता। इस कारण अच्छा खासा साझा चौक आँगन सा बन गया है। औरतें छतों-छत संवाद करती हैं तो पैड़ियों पर बैठकर मजलिस सी बना लेती हैं। इन पैड़ियों के नीचे नालियाँ भी बहती हैं। ज्यादातर ने पैड़ियाँ इस प्रकार बना रखी हैं कि नालियाँ ढंक जाए, लेकिन गंध तो रहती ही है जो इन्हें तो नहीं बाहर से आने वालों को महसूस होती है। मक्खियां भी मंडरा रही है औरतें बैठी बातें कर रही हैं, गली में खेलते बच्चों पर निगाह भी रख रही हैं। महंगी होती सब्जियों, बढ़ते किरायेदारों, लड़के-लड़कियों के बदलते चाल-चलन, मोबाइल में घुसे रहने और माँ-बाप से लगातार झगड़कर मोबाइल माँगने से होती हुई 'मोलकी' दुल्हनों पर बातें हो रही थीं।

'आँ ऐ माया! बेबे बुरा तै मानिये मत पर इसका के बणेगा जो छोहरा नई मोलकी ले आया...?' पारो बोली

'बेरा ना बेबे राम जी के करवावेगा...? हम तै सांझ तै रोण-पीटण लाग रे हैं... अन्न का दाणा तक ना जा लिया पेट म्हं...' कहते-कहते माया की पलकें गीली हो गईं और आवाज़ भीगने लगी।

'ऐ माया! दिखे कदे महैंदर वाली ना हो ज्या... दो-दो राखण के चक्कर मैं मुस्से (चूंहे) मारण की गोली खा ली थी पुरार कै (पिछले साल)... ऐ बेबे...' शकुंतला जेठानी।

'ऐ मर जाणा ऐ आच्छा इस दुर्गत तै... वहां बस्ती मैं बिरहमा के नै तै धंधे पै ही बिठा दी... ब्याह कै ल्याया था... थी तै अपणी इज्जत... अर ल्या कै बेस्या बणा दी...' मिसरी ने बात जोड़ी

'ऐ म्हारी है तै घणी कमेरी... सारा घर सिंभाल लिया... जै परमातमा कोई जिंगड़ा (बच्चा) दे देत्ता तै...' माया ने आसमान की ओर देखकर बात अधूरी छोड़ी और माथा पकड़ लिया। बाकी औरतों ने भी समर्थन सा किया।

'हां ऽ ऽ...'

'ठीक कहवै सै बहाण...'

'कोई ना; टेक राखेगा पिरमातमा...'

इसी तरह दिन बीत रहे थे। इस गाँव और आसपास के गाँवों में लोग मोलकी दुल्हन लाते रहे। वे खूब कमेरी होतीं। घर भर को सजाती-संवारती, संभालती लेकिन वो मान-सम्मान अर्जित नहीं कर पातीं जो जाति, गोत्र, देखकर और परंपरागत रीति-रिवाज़ों से ब्याहकर लाई गई को मिलता। लेकिन मोलकी लाना ही ज्यादा संभव और सरल था परंपरागत न तो जीवन रह गया था न ब्याह हो रहे थे। कई जगह तो दूसरी आने पर मोलकी की भूमिका सिमटकर नौकरानी वाली हो गई थी। कहीं इन्हें धंधे में धकेल दिया गया था तो कहीं ये किसी फैक्ट्री में जा लगी जहां सुपरवाईजर और फोरमैन इन्हें नोच-खसोट रहे होते।

जिस घर में अगर बड़ा लड़का मोल की लाया वहाँ छोटों को रोकने टोकने वाला कोई नहीं होता। बाप की हालत यह कि वह खुद ही अपने तीन-तीन, चार-चार, प्रतिरूपों के सामने निस्तेज, बेदम और बेअसर नज़र आता। चौपाल, ताश और शराब की शरण जाने का यह सरलीकृत बहाना था। यही हाल सुभाष और उसके परिवार का हुआ। सुभाष का घर इसी मोहल्ले में माया से एक दो गली छोड़कर था। गलियां क्या थीं बरगद की जड़ें सी थीं, एक में से दूसरी निकलती।

चार-चार जवान बेटों (जिनमें बड़े का ब्याह हो गया था, एक बच्चा भी था) के होते हुए भी सुभाष फिसल गया। तेजी से बसती जा रही कच्ची बस्ती के बाहर सड़क पर एक ऐसी ही छोड़ी हुई मोलकी चाय बनाती थी सुभाष वहीं जमने लगा।

'इसका आदमी दारू पी कै मर ग्या... दूसरा था... पहलड़ा तै खेड़ा गाम का था ट्रक डलेवर... वाहे ल्याया था इसनै मोलकी... इब चाह की दुकान कर ली...' वहीं पेड़ के नीचे ताश खेलते, चाय का आर्डर करते लोग बतियाते।

'है तै इबे जुवान... किस तरियां उमर कटेगी...' सुभाष टोह सी लेते हुए सवाल करता

'कमाण तै लाग री सै... दिन मैं चाह, बीड़ी-सिकरट अर गुटका तंबाकू बेच लेवै... अर सांझ नै... चमड़े का जहाज चाल्है...' सामने वाला सुभाष को भद्दा सा इशारा करता

'हाँ ऽऽ' सुभाष यकीन न करने वाला लंबा हुंकारा भरता। धीरे-धीरे सुभाष वहाँ जमने लगा और सांझ होते-होते 'चाहवाली' (चायवाली) से रमने भी लगा। घर-प्लॉट, गली, चौपाल छोड़कर सुभाष वहीं पाया जाने लगा।

कोई रिश्तेदार आता तो सुभाष कहीं और नहीं 'चाहवाली के छप्पर' में बरामद होता। यूं तो सुभाष 'पीता-खाता' नहीं था लेकिन यही शौक 'लत' से भी बुरा लग गया। जवान होते बालकों को भी रास्ता मिल गया बूढ़ी होती विमला उद्योग विहार की फैक्ट्रियों में मसाला पैकिंग का काम करती और बाकी तीन बच्चों और अपना पेट पालती। बड़ा वाला सुभाष की बदनामियों का बहाना कर अलग हो गया। लेकिन चोरी छिपे एक विधवा या छोड़ी हुई दो बच्चों की मां किरायेदारनी से जा लगा। वह घरों में झाड़ू बर्तन कर गुजर कर रही थी। घर में क्लेश बढ़ गया कभी बड़े की शादी में उसकी साली से छोटे रमेश की हाँ सच हो गई थी, बड़े-बूढ़ों ने हास-परिहास में हाथ पकड़वा कर फेरे से भी करवा दिये थे। तब दोनों स्कूली बालक ही थे। पर अब वे मना कर गए।

रमेश एक दिन एक किरायेदारनी को ले भागा। कई दिन खोजे गए नहीं मिले। पैसे खत्म हो गए तो लौट आए। रमेश की ससुराल वालों को पता लगा तो थोड़ी ना-नुकर के बाद गौना कर बेटी को विदा किया। जिसे लेकर भागा था उसे किराये पर रख छोड़ा और एक फैक्ट्री में लगवा दिया। लोग कहते भी थे ''भाई भेजणी पड़ी ससुराल वाला नै! ना तै भाज जात्ती किते, कई आशक पाल लिये थे रिमेस की घरवाली नै ... पीहर म्हं...' पहले भाई की साली थी लेकिन अब वह पत्नी के तौर पर रहती है। लेकिन लोग बताते हैं कि रमेश को नित नई का चस्का लग गया है।

'रमेस तै घर का नास करण लग रहया सै... बारा बाट होण वाला सै ईब तै...' कभी-कभी घर आए सुभाष से विमला घर की दिक्कत साझा करती।

'कही तै मन्नैं बी थी... पर कहमते ही सीधा सिर पै आवै सै... ईब बुढ़ाप्पे म्हं अपणी बेजती तै करवाणी ना मनैं...' कुल्ला करते रुककर सुभाष कहता

'बेजती तै नूं बी होण लाग री सै गाम-रिस्तेदारी म्हं, के बाब्बू-बेट्टा एक्के डोर पै लाग रे सैं... बुढ़ाप्पे म्हं'

'तन्नैं तै सारी हाण ये ही कुरचला-कुरचली भावै सै...'

गुस्से में सुभाष मोरी पर कुल्ला करते हुए वहीं से स्टील का गिलास ज़मीन पर दे मारता और तेजी से गली में निकल जाता।

'मेरी बात तै ईब कुरचला-कुरचली ए लागेगी... उस्से के भीतर म्हं घुसा रहिये... वाहे पार तार देगी...'

बाहर निकलते सुभाष के कानों में शब्द टूट-टूटकर आते लेकिन अर्थ एकदम स्पष्ट नंग-धड़ंग सा दिलो-दिमाग में बैठा होता।

'रै रमेस तेरा दोस्त आया था जिब तू घर ना था घर म्हं...' एक दिन विमला ने रमेश से कहा

'हां...!' मुश्किल से खाना गटकते हुए उसने कहा।

'पर तेरे पाच्छे तै क्यूं आवै सै...? अर आवै तै बहू धोरै क्यूं घुसा रहवै सै चुबारे म्हं...?' गाम मैं रूक्का पड़ रहया सै के सभास के छोरे की बहू तै...'

तेरा तै दमाग खराब सै...? कहकर वह खाने की थाली उठाकर चौबारे की सीढ़ियाँ चढ़ने को गली में निकल लिया। जीना बाहर से था। सिलसिला आगे बढ़ता रहा। शुरू में अलग-अलग 'दोस्त' आए लेकिन जल्द ही एक फिक्स सा हो गया। रमेश घर में हो या न हो उसका तथाकथित दोस्त आता, बाहर ही बाहर जीने से ऊपर जाता और कुछ वक्त बाद रौब से खांसता सा गली में उतर कर चलता बनता। कोई कुछ ना कहता... सबके घर शीशे के बने थे, और जिनके नहीं बने थे उनके बन रहे थे। मोहल्ले में बातें होतीं मगर कानाफूसी में।

''आं ऐ! सुणी है के यो जो मुच्छल सा आवै सै रमेस की घरवाली का पहलां का जाण-पिहचाण का सै...' एक औरत ।

सुणी तै हमनैं बी थी अक उसके गैलां (साथ) पकड़ी गई थी खेत्तां म्हं - दूसरी औरत।

'अरै भाई! यो सुभास का तै मौज ले रहया सै दो-दो मोल की ले आया... एक घर म्हं तै दो झुग्गी म्हं...'

'घंटा मौज ले रहया सै... अपणी तै संभलती बी कोन्या... सारी हाण वो जाट का उसकी लुगाई नै गोड्डे ज्या सै... अर जो दूसरी दो-दो झुग्गियाँ मैं राख राखी सै उनपै धन्धा करवावै सै... ले रहया सै मौज...' दूसरे ने ईर्ष्या मिश्रित गुस्से में कहा।

'ओ हो ऽऽ' जिब्बे तै ऽऽ... कुछ

काम धन्धा तै करता कोन्यां अर बढ़िया पहरै खावै अर मोट्टर सैकलां पै घूम्मैं...'

हां भई घूम्मेगा ही... चमड़े के जहाज जो चाल रे सैं उसके...'

'चमड़े का जहाज किसा होवै सै भाई...?' एक ने अनजान भाव से पूछा तो उसकी नादानी को मूर्खता मान सारे ठठाकर हंस दिये। मानो मोहल्ले का दाय लौटा रहे हों।

ये ठहाके चौपाल को बेधकर पूरे मोहल्ले में गूंज उठते। रमेश के खर्च और ऐश बढ़ते गए। उसने अपने हिस्से का प्लॉट जो बीस-पच्चीस गज था, बेच मारा। घर में खूब मारपीट और क्लेश हुआ। सुभाष को इससे कोई मतलब नहीं रह गया था। वह पूरी तरह चायवाली के साथ रहने लगा था। कई बार उसकी भी झड़प तीनों लड़कों पत्नी और बहू से हुई थी। बाद में पता चला कि सुभाष भी एक टुकड़ा बेचना चाहता था लेकिन विमला के गहने ही बेच पाया। दिन गुजरते रहे। विमला बहुत जल्दी बुढ़ा गई। गाँव वालों के शब्दों में -

'बिमला तै अरड़ दे सी नै बैठगी...'

'क्यूं ना बैठ ज्या बेब्बे...? आदमी तै बुढ़ाप्पे मैं छोड़ के भाज ग्या... अर उलाद बी निकम्मी लिकड़ी... हराम के बीज नै बहू बी रंडी बणा दी...।'

'ठीक कहवै बहाण इतणे दुखां मैं तै आच्छे-आच्छे बैठ ज्या वा तै बिचारी लुगाई सै...'

'ची.च च...च...'

मोहल्ला एक था, दुख अनेक थे, बातें खूब सारी थीं। यहाँ का जीवन खिसक रहा था, बाहर की दुनिया सरपट दौड़ रही थी। मोबाइल फोन, मोटर साइकिलों, कारों, ए.सी. और सुख-सुविधाओं का मायाजाल नशीला हुआ जा रहा था। पास के उद्योग विहार में हजारों फैक्ट्रियों में लाखों मज़दूर मशीनों के पुर्जे बने हुए थे और इस तरह आसपास के गाँवों में किराये पर रहते। गाँव गायब हो गया किराये के भारी-भारी कलस्टर बन गए थे। कच्ची-पक्की बस्तियाँ बसती-भरती जा रही थी। चायवाली ने थोड़ी आगे जाकर पास के गाँव की ज़मीन पर बसती कच्ची कॉलोनी में तीस गज का पक्का मकान बना लिया। नीचे चाय की दुकान, ऊपर रहने का। सुभाष पूरी तरह वहीं रहने लगा। अक्सर ग्राहकों को चाय पकड़ाता, कप-प्लेट धोता और चायवाली से डांट खाता मिल जाता गांव वालों को, चायवाली और भी धन्धों में लग गई थी।

कोई गांव वाला कहता -

'रै सभाष क्यूं बेजती सहवै है, गल्ती हो ली सो हो ली भड़वागिरी छोड़! अर चाल गाम म्हं...'

'ना भाई! गल्ती तै बणगी है! पर ईब तै गलती निभाणी सै...

थोड़े दिन तै बचे हैं फेर राम मालक...' कहता सुभाष फिर चाय के जूठे कप उठाकर होदी सी बनी जगह पत्थर की पटिया पर बैठकर बाल्टी के पानी से धोने लगता...

रामचन्दर पी-पीकर टी.बी. का मरीज हो गया है। चौपाल पर बैठा खांसता खून थूकता रहता है। माया के बनाव श्रृंगार में कोई कमी नहीं आई है। मोल की बहू ने उसे माँ की तरह संभाल रखा है। माया का मंझला ट्रकों पर जाता है, कई-कई महीनों में आता है और जरूरतमंदों को मोलकी दिलवाने में खासी दलाली खाता है। रमेश कई बार पुलिस में पकड़ा गया, कर्ज में डूबा, क्लेश और मारपीट में रहा और एक दिन मोलकी की झुग्गी में पंखे से लटका पाया गया। गाँव वालों ने साथ दिया पुलिस केस न होने दिया और गाँव लाकर अंतिम संस्कार कर दिया।

लेकिन जीवन था कि थमने का नाम नहीं ले रहा था। मोलकी के प्रति लोगों में अब भी सम्मोहन भरा आकर्षण बरकरार था।

... एक बात जो रह गई...

माया के छोटे लड़के ने अपने जैसे 'लड़कों' का शहरी ग्रुप ज्वॉइन कर लिया है और होटलों में रहता, नाचता है। कभी-कभी घर गली में दीखता है

रमेश की घरवाली के पास आने वाला उसका दोस्त अब लगभग वहीं रहने लगा है। विधवा होकर वह अब और सुखी हो गई है। रमेश का दोस्त उसकी विधवा का अब अघोषित और सर्व स्वीकार्य सा पति है। उसने विमला के घर में सब तरह की सुविधाओं का सुख कर दिया है। रमेश की विधवा अब खूब निखर-संवर गई है और अक्सर कहती है -

'बहोत कष्ट उठा कै रामजी नै सुणी है अर (और) ये आच्छे दिन देखण नै मिले हैं... अब आत्मा मैं सीळक पड़ी है... तनसुख सो मन सुख... आत्मा सो परमात्मा...' ●●

सम्पर्क : 96504-07519

उर्मिल मोंगा की कविताएं

देश की बेटियां

चीरती
बेजान हवाएं
तोड़ती
सलाखें
लांघती
दुर्गम पहाड़
चूमती
शिखर
मुस्कराएंगी
गाएंगी
खिलखिलाएंगी
बेटियां
कब...?

बूढ़े

कभी
बरबादी के गम में
डूबे
लाचार, बेबसी का
घूंट पीते बूढ़े
कभी
दुर्योधन की
महत्वाकांक्षा का शिकार
धृतराष्ट्र बन जाते
बूढ़े
कभी
द्रोण
कभी
भीष्म की तरह
मूक हो जाते
बूढ़े
कभी पुत्र मोह में
छोड़ जाते हैं
प्राण
कभी
घर का ताला है
ममता का प्याला है
वट वृक्ष की छांव
हैं बूढ़े....।

●●

सम्पर्क-94164-36082

वी.एन. राय, डा. सुभाष चंद्र, ओम सिंह अशफाक, सुरेन्द्रपाल सिंह, संबोधित करते हुए सोना चौधरी

19 मई 2016 को कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र में 'देस हरियाणा' पत्रिका की ओर से लेखक से मिलिए कार्यक्रम आयोजित किया गया, जिसमें लेखक सोना चौधरी से छात्रों, शोधार्थियों तथा शिक्षकों ने संवाद किया। सोना चौधरी के तीन उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, 'पायदान', 'विचित्र' और 'गेम इन गेम'। इस अवसर पर साहित्यकर्मी व पूर्व आई पी एस अधिकारी श्री विकास नारायण राय तथा सामाजिक कार्यकर्ता व सदभावना मंच के संयोजक श्री सुरेन्द्रपाल सिंह उपस्थित थे। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता प्रख्यात लेखक श्री ओमसिंह अशफाक ने की। इस अवसर पर सोना चौधरी ने अपने वक्तव्य में लेखक बनने की प्रक्रिया साझा की। संवाद सत्र में श्रोताओं के बहुत से सवालों के उत्तर दिए उनके अंश यहां प्रस्तुत है।

प्रस्तुति - डा. सुभाष चंद्र

पहली बार लेखक की हैसियत से ...सोना चौधरी

मेरे सामने 'देस हरियाणा' पत्रिका का बैनर देख रही हूं। उस पर लिखा है: अभिव्यक्ति का मंच। मैं सोच रही हूं कि क्या वास्तव में ही अभिव्यक्ति का मंच मिलता है। 1947 से लेकर आज तक मुझे नहीं लगता कि महिलाओं को सही मायने में अभिव्यक्ति मंच मिला है। जो एक आध कोई दुस्साहस कर भी लेता है तो वो उसके परिणाम भी भुगतता रहता है। कुरुक्षेत्र महाभारत के युद्ध की धरती है तब से लेकर आज तक नारी के संदर्भ में कुछ खास नहीं बदला है, हो सकता है कुछ कहने का तरीका बदल गया हो। लेकिन स्थिति आज भी वहीं की वहीं है, हम आज भी लड़ रहे हैं। 1947 वाली आजादी को सही मायने में जीने में कितना वक्त लगेगा। सोच तो रहे हैं कि हम आजाद हैं और सुन भी रहे हैं कि आजाद है, लेकिन क्या वाकई आजाद हैं।

मेरे कुछ इस तरह के अनुभव रहे हैं कि जो भी मिलता है, समझाकर चला जाता है। कौन मिलता है समझने वाला यहां, जो मिलता है समझा के चला जाता है। मुझे तो आज तक कोई समझने वाला मिला नहीं। उसमें महिलाएं भी हैं, पुरुष भी हैं, दोस्त भी हैं, रिश्तेदार भी हैं।

सबकी अपनी दृष्टि होती है, उसके साथ हम अपना एक तर्क जरूर जोड़ देते हैं कि यदि आप चाहती हैं कि आपको स्वीकार किया जाए तो पहले आप हमें स्वीकार कीजिए। हमें सही बोलिए, तभी आप सही हो सकती हैं।

ये 'गेम इन गेम' पुस्तक लिखने का जो दुस्साहस किया है, उसके परिणाम मैं आपसे साझा करूंगी, जो मैं अब झेल रही हूं। इससे पहले 'पायदान' उपन्यास लिखा था। उसके लिए मुझे काफी सुनना पड़ा था। यहां तक कि मेरे घर में वो किताबें बक्से में रखी हुई हैं। वो किसी को दिखाई नहीं जाती कि हमारी बेटी लिखती है। ये कह दिया जाता हे कि ये लेखक है, लेकिन ये नहीं दिखाया जाता कि क्या लिखा है। क्योंकि उनको लगता है कि जो मैं लिखती हूं उनके हिसाब से समाज के हिसाब से ...। कहीं न कहीं सवाल उठाता है और हर आदमी सवाल से बचना चाहता है। जैसे आजकल मेरे सामने बहुत से सवाल उठाए जा रहे हैं। ईमानदारी से कहूं तो कुछ सवालों से मैं भी बचने की कोशिश करती हूं। सोचती हूं कि इन इन सवालों का जबाव मुझे न देना पड़े, क्योंकि जो सवाल आपको कचोटते हैं, तकलीफ देते हैं, जो गुनाह आपने किया नहीं, फिर भी उसकी सजा देते हैं। वो सवाल सच में बड़े दुखदायी होते हैं।

पायदान में खेल-कूद के बारे में लिखा था। पहला ऐसा उपन्यास था, खेल-कूद जिसका विषय था। पायदान में खेल का थोड़ा सा हिस्सा था। खेल-कूद को इसलिए चुनती हूं क्योंकि मैंने खेल-कूद को जिया है। एक एक पल को मैने महसूस किया है।

मुझे लगा कि अभी बहुत कुछ आना बाकी है। लोगों से मिलती थी-सुनती थी तो लगता था कि मुझे इन बातों को सामने लाना चाहिए।

इस बीच 'विचित्र' उपन्यास आया। महिलाओं की वही स्थिति है, चाहे आप खेल-कूद में लें ले या समाज में, घर में या बाहर, सबकी स्थिति वैसी ही है।

मुझे अपने आस-पास से ज्यादा सी सहमति नहीं मिलती, वो इसलिए कि कहीं न कहीं मेरा अपना विचार है, मेरी अपनी सोच है। जहां पे भी एक लड़की अपनी स्वतंत्र सोच रखेगी, अपने निर्णय लेगी।जहां वह कहेगी कि मुझे सोचना-समझना-महसूस करना और बोलना भी आता है, वहीं पे उसका बाईकॉट होगा। हमें तो ये समझा के रखा जाता है कि आप मूक-बधिरों की तरह रहिए तो आप सुखी हैं। जहां आपने आवाज उठाई, वो आवाज आप कैसे उठा सकती हैं, आपको हक नहीं है। क्योंकि दोयम दर्जा तो पैदा होते ही मिलता है यहां। हम सब अपने सामाजिक परिवेश को देख रहे हैं, चीजें उतनी बदल

नहीं रही हैं। क्योंकि जब पैदा होते हैं तो यही कहा जाता है, 'ऐ, छोरी होगी', 'आग्या पराया धन', 'इब या और सिर पे बोझ आगी'। इस तरह की बातें हर लड़की के जन्म होने पर होती हैं, अगर एक-आध के साथ ऐसा नहीं है, तो बड़े ताज्जुब की बात होगी। हमारे यहां चाहे दस बेटे हों और एक बेटी होगी तो उसके लिए कोई रो नहीं रहा तो हंसता भी नहीं है। बेटा एक हो जाए पहले तो फैमिली कम्पलीट है, यदि पहले बेटी हो गई तो एक बेटे के लिए चाहे दस बेटियां हो जाएं। एक बेटे के लिए सारे यत्न करेंगे। यही स्थिति आज भी है, बहुत कुछ नहीं बदला है।

मैं अभी आ रही थी, पानीपत की दीवार पे बड़े से नारे लिखे हुए थे कि बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ। लेकिन इन पर कोई अमल नहीं हो रहा। असल में ये दीवारों की बजाए दिमाग पर लिखे जाने चाहिएं, तब जाकर कोई सुधार होगा। महसूस करने से होगा। और महसूस कब होगा, जब उस तरह के अवसर दिए जायेंगे। चिल्लाने-बोलने से नहीं, बल्कि करने से बदलता है।

जब मुझे कुछ चीजें जो खराब लगती थी। एक डायरी मेरे पास थी, आठवीं कक्षा में। मैं डायरी लिखती थी कभी-कभी घर में इस बात के लिए पिटाई भी होती थी कि अपना समय बरबाद करती है, पढ़ने-लिखने का। डायरी क्यों लिखती है।

मेरे घर में कोई पढ़ा-लिखा नहीं था, मैं किसानी परिवार से संबंध रखती हूं। मेरी मां एक गृहिणी है। पढ़ने की सामग्री ढूंढती रहती थी। मुझे सोचने की बहुत आदत है, उसके लिए खुराक तो चाहिए। रोहतक जैसे माहौल में वो कहां मिलेगी।

बड़ी दिलचस्प बात है। एक बार मैं पंचकुला चली गई वहां आधार प्रकाशन है। वो पहली साहित्य की दुकान थी, जहां से किताबें मिलती थी। सात-आठ किताबे चुनने के बाद पैसे कम पड़ गए। मैने कहा कि मुझे सारी किताबें चाहिएं और मेरे पास पैसे नहीं है, इन किताबों के पैसे मैं बाद में भेज दूंगी। उन्होंने कहा कि हरियाणा से वो भी लड़की, पढ़ने के लिए किताबें मांग रही है। उनको विश्वास नहीं हुआ। हरियाणा के बारे में ये छवि थी कि लोग साहित्य नहीं पढ़ते हैं।

जिस माहौल से मैं निकली हूं। वहां किताबे, साहित्य बहुत ज्यादा नहीं था। मेरे पास अपनी सोच व संवेदनशीलता थी। जिसने मुझे यहां तक मजबूर किया। क्योंकि कोई भी कहानी आपके आस-पास से होकर नहीं गुजरती, आपके अंदर से होकर गुजरती है। कहानी आपके अंदर घटती है, आपको तोड़ती-मरोड़ती है, हंसाती-रुलाती है और सोचने पर मजबूर करती है। आपकी रातों की नींद खराब करती है, दिन का चैन छीनती है। तब वो कहानी बनती है, कहानी इतनी आसानी से नहीं बनती।

लेखक भी इतना आसानी से नहीं बनता। मुझे तो हर पल एक नया अनुभव मिला है। मैंने तो यही सीखा है कि अपने अनुभव ही अपने जीवन के सबसे अच्छे शिक्षक हैं व मार्गदर्शक हैं। मेरे लिए मेरा अनुभव एक नया शिक्षक रहा है। जिंदगी को मैंने हर पर नए अंदाज से जिया और देखा है। हर ठोकर को कुछ इस तरह लिया है कि 'जिंदगी में गम मिले इतने कि सहने की आदत सा पड़ गई है, एक भूले नहीं, दूसरे की आदत सी पड़ गई है'। जब छोटी सी चोट भी लगती है, तो सारा ध्यान उसी पर फोकस हो जाता है, लेकिन जब बड़ी चोट लगती है, तो छोटी चोट को भूल जाते हैं और बड़ी चोट पर शिफ्ट हो जाते हैं।

मेरे साथ बहुत अनुभव रहे हैं कभी उंगली टूट गई, कभी पैर टूट गया, कभी घुटने। इस तरह हर लड़की के साथ होता है। शारीरिक व मानसिक तौर पर उनको हर पल किसी न किसी तकलीफ से गुजरना पड़ता है। जहां वो बोलना शुरु करती है, वहां उसको सवालों का सामना भी करना पड़ता है।

हम जिस दौर से गुजर रहे हैं, हम संस्कारों और आधुनिकता के द्वंद्व में है। इसमें हमारे विचार खोते चले जा रहे हैं। हम गलत को गलत सोच कर भी बहुत बार आवाज नहीं उठा पाते।

मैं जब छोटी थी, तो अंदर से बहुत विद्रोह था, गलत को गलत कहने को और बरदास्त न करने का विद्रोह। लेकिन उस समय मेरी आवाज सुनता कौन। कोई नहीं सुनता। 'पायदान' व 'विचित्र' तक नहीं सुनी। अब सुन ली गई, लेकिन मेरे साथ ये भी जोड़ दिया गया कि मेरे साथ ही ये सब कुछ हुआ है। पहले आवाज क्यों नहीं उठाई। ये सवाल आज भी मैं झेल रही हूं।

'गेम इन गेम' में एक प्रसंग है महिला का महिला से अंतरंग संबंध। महीनों तक आप घर से बाहर रहते हैं, यदि आपका भावनात्मक लगाव है और कभी-कभी शारीरिक में भी आ जाती है, तो ये बहुत बड़ा सच है। इसमें मैने कुछ नया नहीं लिखा। ईस्मत चुगताई ने 'लिहाफ' में ये लिखा भी है। सवाल इस तरह से पूछा जाता है कि क्या आपके साथ ऐसा हुआ। मेरे साथ हुआ कि नहीं हुआ, लेकिन मैंने उस समाज को जिया तो है। उस माहौल का हिस्सा तो हूं ही कहीं न कहीं। इससे क्या फर्क पड़ता है कि वो मेरे साथ हुआ या मेरी किसी दोस्त के साथ हुआ।

'गेम इन गेम' पुस्तक को लेकर व्यक्तिगत हमले हो रहे हैं, कि आप बताइए आपके साथ किस जगह क्या हुआ, वो लोग कौन थे, उनके नाम क्यों नहीं लेते। अगर समाज में कोई बुराई है और हम आवाज उठाते हैं तो उन्हीं के साथ जड़ दिया जाता है कि आपके साथ ऐसा हुआ है क्या। इसका मतलब ये हुआ कि हमारे साथ न हुआ हो तो हम आवाज ही ना उठाएं। यदि हम पर कोई हमला करे तभी हम जागें, नहीं तो हमें कोई जरूरत है ही नहीं। जब हम आवाज उठाती हैं तो या तो दबा दी जाती है या दिशा ही बदल दी जाती है।

'गेम इन गेम' पुस्तक में जो लिखा है वह सही है। सभी जगह यौन-उत्पीड़न है। घर में, दफ्तर में, मीडिया में सभी जगह तो होता है। असल में मुद्दों पर बात करने की बजाए व्यक्तिगत हमलों में अधिक रुचि है। हमें व्यवस्था सुधारने में कोई दिलचस्पी नहीं है। बार-बार इसी तरह से सवाल पूछे जा रहे हैं कि क्या आपके साथ सब घटित हुआ। तब आपने आवाज क्यों नहीं उठाई। इतने सालों बाद आपने क्या सोचकर लिखा।

ये लेखक की स्वतंत्रता है कि वह कब लिखेगा। कब उसकी रचना बनेगी। केरल में खिलाड़ियों ने आत्महत्या की, मुझे बहुत तकलीफ हुई। उन लड़कियों से मेरा कोई व्यक्तिगत संबंध नहीं था, लेकिन मुझे ऐसा लगा कि यह सब कुछ मेरे साथ हुआ। खेल-कूद में किसी लड़की के साथ कुछ ज्यादती होती है तो मुझे वो मेरी तकलीफ लगती है। मेरे आस-पास जो चीजें घट रही है, जब तक मैं ये ना सोचूं कि मेरे साथ घट रही हैं, तब तक मैं लिखूं कैसे, महसूस कैसे करूं। जब हम महसूस करना शुरु करते हैं तो हम सवालों के घेरे में खड़े हो जाते हैं।

खेल मंत्री जी का बयान आया

कि 'सोना चौधरी हमसे आकर मिलें। रिपोर्ट लिखवायें तो हम इस पर कार्रवाई करेंगे।' मैं क्या रिपोर्ट लिखवाऊं। मैं तो मुद्दों की बात कर रही हूं। यदि आप सुधारना चाहते हैं तो मैंने उपन्यास में लिख दिया है। आप ऐसी नीतियां बनाइए कि कोई हिम्मत ना कर सके बदतमीजी करने की। ये कोई सुनना नहीं चाहता। दो पंक्तियां मेरे दिमाग में आई थी। 'बंद दरवाजों पे आवाज लगाया न करो, सिस्टम बहरा है इसे दिल की सुनाया न करो'।

सबसे पहला हमला महिला के चरित्र पर होता है। खिलाड़ियों की समस्या उठाते हुए यदि मैं भावुक हो गई तो मीडिया ने उसे यौन-उत्पीड़न का रंग दे दिया। खबर तो बिक गई, लेकिन मुद्दे दब गए। जिन मुद्दों के लिए यह किताब लिखी है, उन मुद्दों पर बात नहीं हो रही है। मेरी व्यक्तिगत जिंदगी पर बात हो रही है। यदि इस तरह से किया जाएगा तो कोई लड़की सच बोलने का साहस नहीं करेगी। सच बोलना कितना मुश्किल है, यह मैंने गेम इन गेम किताब लिखने के बाद जाना। अब मुझे अहसास हुआ कि लोग सच क्यों नहीं बोल पाते हैं। सच बोलने के बाद उसके परिणाम बहुत कष्टदायक हैं। मुझे लगता है कि जैसे मैं अपने ही माहौल में अकेली पड़ गई हूं। आप इस किताब को पढ़िए आपको अच्छा लगेगा। धन्यवाद।

संवाद सत्र :

- मैं रोहतक में पैदा हुई। मेरी औपचारिक शिक्षा रोहतक में हुई। दिल्ली से चार साल कम्प्यूटर इंजीनियरिंग किया है, फिर मैने अमेरिका से इवेंट मैनेजमेंट पढ़ा है और सिंगापुर युनिवर्सिटी से लीडरशिप पढ़ा है। अब मैं बनारस में हूं।

- लिखने से जो सम्मान मिला है, उसकी चर्चा मैं तब करती, यदि मुझे सम्मान के रूप में सम्मान मिलता। आज पहली बार एक लेखक की हैसियत से मुझे कुरुक्षेत्र में बुलाया है। तीन उपन्यास लिखने के बाद हरियाणा में मुझे पहली बार यहां पे बुलाया है, किसी संवाद व विचार-विमर्श के लिए। एक छोटा सा एक कार्यक्रम हिसार में हुआ था, लेकिन तीन उपन्यास लिखने के बाद आज यहां पर चर्चा हुई है।

एक चीज है कि दर्द जब आपके अंदर है तो हंसी कहां से आए। जो भी आपके अंदर हैं। हंसी है तो भी खुशी है तो भी। आप इनसे जूझते हैं। आजकल इन्हीं सवालों से जूझ रही हूं। इसका मतलब ये नहीं कि जीना छोड़ दूंगी या लिखना छोड़ दूंगी और ज्यादा घसीटूंगी। 'पायदान' आया था तो भी अटैक हुए थे, विचित्र आया तो भी अटैक हुए थे। अब 'गेम इन गेम' आया। 'गेम इन गेम' के बाद क्या आयेगा ये कहना तो मुश्किल है। सूरज हमेशा तप कर ही दूसरों को रोशनी देता है। शायद ये मेरा तपने वाला वक्त चल रहा है। कहीं न कहीं कुछ तो रोशनी निकलेगी।

- मुझे साहित्य से बढ़कर कोई रास्ता नजर नहीं आता। साहित्य और शिक्षा ही एक ऐसी चीज है जो हमें सारे पाखंण्डों से दूर कर सकती है। कहीं न कहीं हम भी उन चीजों का हिस्सा हैं, न हम विरोध करते हैं, न हम बोलते हैं। कहीं न कहीं मौन स्वीकृति तो हम भी दे रहे हैं, बढ़ावा दे रहे हैं।

हमारा समाज पुरुष प्रधान समाज है। यहां बेटियों को बराबर के हक सिर्फ कागजों पर हैं। अभी भी उनको संपत्ति में हक नहीं मिला है। उनके हस्ताक्षर करवा लिए जाते हैं। मुझसे भी हस्ताक्षर करवाए गए हैं। संपत्ति में हक नहीं मिला है। ये शिक्षा का हिस्सा होना चाहिए कि संपत्ति में बेटियों का अधिकार है, तुम इसको लो। कोई पाठ्यक्रम इसे नहीं पढ़ायेगा। उसमें ये पढ़ाया जाता है कि राम खाना खा, रमा झाड़ू लगा। पहली कक्षा में मात्रा जब सीखता है तो वह सीखता है कि राम तो राजा बेटा है, लेकिन रमा तो पैदा ही झाड़ू लगाने के लिए हुई है। इस मानसिक संरचना के साथ हम क्या सिद्ध करना चाहते हैं।

हम अपने परिवेश से कटकर नहीं रह सकते। हमें उसी में रहते हुए खुद को बदलते हुए उसे बदलना है। मालिक और मजदूर का जो रिश्ता है। मालिक नियम-कायदे बनाता है और मजदूर उनका पालन करता है। उसी तरह पुरुष शुरु से ही नियम बनाता आया है। महिला नियम बनाती तो उसमें महिला की दृष्टि शामिल होती। शास्त्रों में भी यही व्यवस्था है। एक स्वार्थ का ढांचा है, जो चलता आ रहा है। यदि ढांचा टूट गया तो सारा समाज सुखी हो जाएगा। लेकिन शासन करने के लिए एक सहन करने वाला भी तो चाहिए।

• लड़कियों को पढ़ाया तो जा रहा है, लेकिन उनको पढ़ा कर व्हील चेयर पर बिठाकर धक्का मार दिया जाता है। लड़कियों को पढ़ाया इसलिए जाता है कि उनकी शादी के लिए जरूरी है। लोगों को पोस्ट-ग्रेजुएट मेड चाहिए होती है, पार्टनर नहीं।

• बेटे चार हैं और जमीन चार एकड़ है तो एक एक एकड़ सबको स्वत: ही आ जाती है। अगर एक बेटी है तो चारों भाई एक तरफ खड़े हो जाते हैं और उस बेटी को हिस्सा नहीं मिलता। उसे उसका हिस्सा दे दीजिए। उसका कैरियर दे दीजिए, बाकी सब काम वो खुद कर लेगी। नजर का इलाज तो डाक्टर कर सकता है, लेकिन नजरिया तो हमें खुद ही बदलना होगा।

महिला सशक्तिकरण की नीतियों में कुछ ऐसा हो कि ये अनिवार्य हो जाए कि बेटी की संपत्ति बेटी को ही मिले, नहीं तो वो सरकारी खाते में चली जायेगी, तभी उसको संपत्ति मिल पाएगी।

• मेरे मां-बाप ने मुझे बेटे की तरह पाला है, लेकिन मैं सोचती हूं कि मुझे बेटे की तरह क्यों पाला है।

• लड़कियां भी इंसान है, उनमें भावनाएं हैं। हमारे समाजीकरण का सवाल है। बहुत सी महिलाओं की सोच पितृसतात्मक है और बहुत से पुरुष स्त्रीवादी नजरिये से सोचते हैं। यहां सवाल स्त्री बनाम पुरुष का नहीं, बल्कि बराबरी का है।

• मैंने जो लिखा है वो सच के आधार पर लिखा है। हो सकता है उसका किसी के अनुभवों से तालमेल न हो। मेरे कहना है कि बात मुद्दों की हो। महिला के हक के मुद्दे हों, खेल संबंधी हों या उनकी आजादी को लेकर हों। ये सच है कि अपने ही शहर, गली व घर में मैं सुरक्षित महसूस नहीं करती। सुरक्षा का माहौल नहीं है। दिन छिपने के बाद परिवार वाले पूछने लगते हैं कि आप कहां पर हैं उनको सुरक्षा की फिक्र होती है। लेकिन भारत से बाहर जाती हूं तो रात भर बाहर रहने पर भी परिवार को सुरक्षा की चिंता नहीं होती, क्योंकि माहौल उनको सुरक्षा का विश्वास दिलाता है।

• खेलों व समाज में अनुभवों के आधार पर साहित्य रचना की है। लड़कियों को यही संदेश है, कि लड़की होना कोई पाप नहीं है। उसमें ताकत है उसको पहचानने की जरूरत है। ••

दिनेश हरमन की गजलें

हमारी रूह में शामिल था ज़िन्दगी की तरह
अभी जो शख्स गया है इक अजनबी की तरह

किसी ने बनके समन्दर बिछा दिया खुद को
मैं उसमें घुल गया जा कर किसी नदी की तरह

किसी दुल्हन को वहां इंतज़ार है मेरा
मेरा जनाजा भी निकले तो घुड़चढ़ी की तरह

अब ऐसे दौर में पहचानें कैसे लोगों को
हरेक आदमी दिखता है आदमी की तरह

तब एक माह भी लम्हे सा बीत जाता था
अब एक लम्हा गुज़रता है इक सदी की तरह

मैं तुझको छोड़ के जाऊँ भी तो कहाँ जाऊँ
ये कुल जहान दिखे है तेरी गली की तरह

2

कई खुल कर फिरौती ले रहे हैं
कई बस चाय पानी ले रहे हैं

तुम्हें मालाएं पहनाई जिन्होंने
सुनो ! वो लोग फांसी ले रहे हैं

करेगा क्यूँ कोई फोकस किसी पर
सब अपनी अपनी सेल्फ़ी ले रहे हैं

गुलाबों की दुकानों से चले थे
ये जो तरकारी भाजी ले रहे हैं

थी जितनी जान सारी दे चुके हम
हैं जितनी सांस बाकी, ले रहे हैं

ज़रूरी है यहाँ कोई धमाका
यहाँ सब लोग झपकी ले रहे हैं

खुदा हाफ़िज़ मेरे 'हरमन' कि अब हम
तेरे दिल से विदाई ले रहे हैं

••

स्मृति शेष

जन कवि एवं लोकगायक –रामफल 'जख्मी'

अविनाश सैनी

पाड़ बगा दयो बहना चुप की चुनरिया
इस चुनरी ने जुलम गुजारया
चुनरी मैं दुबक्या हाथ हमारा
खूब पिटाया हमें सारी हे उमरिया
पाड़ बगा दयो बहना चुप की चुनरिया

इस चुनरी नै गले को घोट्या,
जुल्म करे बोलण तै रोक्या
जकड़े राखी मैं, पिया की अटरिया
पाड़ बगा दयो चुप की चुनरिया

चुनरी पति परमेश्वर बोले
जिन्दा जली चुनरी के ओह्ले
खड़ी-खड़ी हँस रही सारी हे नगरिया,
पाड़ बगा दयो बहना चुप की चुनरिया

इक दिन चुनरी पड़ैगी बगाणी
मिलकै पड़ैगी तकलीफ मिटाणी
जब 'ज़ख्मी' होगी पूरी हे डगरिया,
पाड़ बगा दयो बहना चुप की चुनरिया

सन् 1990 के बाद हरियाणा में चले साक्षरता अभियान के दौरान महिलाओं की आवाज बने इस गीत के रचयिता रामफल सिंह 'जख्मी' नहीं रहे। राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित रहे इस गीत में घूंघट को लेकर महिलाओं की पीड़ा व्यक्त करने के साथ-साथ उन्हें भेदभावपूर्ण परम्पराओं व रूढियों के खिलाफ अपनी चुप्पी तोडने के लिए भी प्रेरित किया। गीत में जिस तरह के शब्दों, उपमाओं और अलंकारों का प्रयोग किया गया उन्हें पढ़-सुनकर शायद ही कोई कह पाए कि यह किसी निरक्षर व्यक्ति का लिखा गीत होगा। दहेज, भ्रूण हत्या, अन्धविश्वास, साम्राज्यवाद, मद्यपान, भ्रष्टाचार, जातीय-लैंगिक और धार्मिक उत्पीडन आदि पर लिखे उनके अन्य गीत भी इसी पाए के हैं।

लगभग 40 वर्ष तक अक्षरों की दुनिया से बाहर रहे रामफल 'जख्मी' वास्तव में एक जनकवि, लोकगायक, प्रगतिशील सांगी और समर्पित संगठनकर्ता थे। अनपढ़ होने के बावजूद उन्होंने सैंकड़ों गीत बनाए। आठ सांग लिखे और खेले। उनके सांग 'खाण्ड कसार' ने 1993-94 में प्रदेश के अनेक निरक्षर ग्रामीणों को पढने-पढ़ाने के लिए प्रेरित किया। वे खुद इस सांग में भूमिका निभाते थे। बाद के समय में भ्रूण हत्या रोकने और समाज में बेटियों को बराबरी का दर्जा देने का संदेश देने वाला उनका सांग 'लाडली' भी काफी लोकप्रिय हुआ।

17 अक्तूबर 1994 को हिसार के गंगण खेड़ी गाँव में जन्में रामफल सिंह एक गरीब दलित परिवार से सम्बन्ध रखते थे। उनका जीवन बेहद अभावों में बीता। किशोरावस्था में ही उन्हें मज़दूरी के लिए महीनों घर से बाहर रहना पड़ता। आखिरकार उन्हें पी.डब्ल्यू.डी. में बेलदार के तौर पर स्थायी काम मिला और जीवन में कुछ ठहराव आया।

बचपन और किशोरावस्था में उन्होंने जिस जातीय उत्पीडन को झेला उसका उनके मन, लेखन और जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। सामाजिक भेदभाव और उत्पीडन से उनके मस्तिष्क पर जो जख्म पड़े उन्हीं के चलते उन्होंने अपना उपनाम 'जख्मी' रख लिया। रामफल सिंह के अनुसार जीवन के अन्तिम समय तक उनके भीतर के जख्म भरने की बजाए और गहरे होते गए।

स्वयं उत्पीडन के शिकार रहे 'जख्मी' ने अपनी रचनाओं में गरीब, दलित, पीड़ित, मजदूर, महिला, छोटे किसान, भूमिहीन मुजारे आदि समाज के वंचित तबकों के जीवन की कटु सच्चाइयों को उजागर किया तथा उनकी समस्याओं को बड़े तार्किक ढंग से समाज के सामने उठाया। उन्होंने विकास के निचले पायदान पर खड़े इन तबकों की सिर्फ पीड़ाएँ ही व्यक्त नहीं की बल्कि समाज के निर्माण में इनके योगदान को सामने लाने के साथ-साथ बेहतर जीवन की परिकल्पना भी प्रस्तुत की।

विभिन्न सामाजिक मुद्दों और राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर उनकी समझ एकदम स्पष्ट थी। इतना ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय घटनाक्रमों और नीतियों को स्थानीयता के साथ जोडकर देखने की उनकी दृष्टि भी गजब की थी। उनकी रचनाएं बेहद जीवन्त और नयापन लिए हुए हैं। इसका मुख्य कारण ये रहा कि उन्होंने बनी-बनाई समझ और शैली को कॉपी नहीं किया बल्कि जरूरत और लोगों के स्तर को ध्यान में रखकर अपने गीत लिखे।

उन्होंने जटिल बातों को भी बेहद सरल ढंग से लिखा, ताकि आम आदमी उसे सहजता से आत्मसात कर पाए और उसे अपनी स्थानीय समस्याओं से जोड़ पाए।

नयेपन का एक कारण यह भी रहा कि उन्होंने बिल्कुल नई जगह से मुद्दों को देखने-समझने की कोशिश की। यही कारण है कि लगभग निरक्षर होने के बावजूद बेहद ऊँचे दर्जे की रचनाएं लिखी जो केवल यथास्थिति का बखान नहीं करती बल्कि उसका विश्लेषण करते हुए समाज को उससे बाहर निकालने की दिशा भी दिखाती हैं। उनकी लेखनी के इसी गुण ने उन्हें जनकवि और लोकगायक बनाया। मजदूरों, महिलाओं और दलित तबकों में उनकी रचनाएँ विशेष रूप से लोकप्रिय हैं क्योंकि वे उनकी बात कहती हैं, उन्हें नई ऊर्जा तथा संघर्ष की प्रेरणा देती हैं।

रामफल 'जख्मी' ने अन्धविश्वासों पर बेहद सटीक टिप्पणियाँ करती हुई रागनियां लिखी हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में पोंगापंथी, ब्राह्मणवाद और मूर्तिपूजा आदि का तार्किक ढंग से खण्डन किया जिन्हें लोगों ने तो खूब सराहा पर 'नास्तिक' होने का ठप्पा भी उन पर लग गया। कबीर-नानक जैसे संतों की परम्परा का निर्वहन करते हुए रामफल 'जख्मी' ने कठमुल्लों और साम्प्रदायिक शक्तियों की पोल खोल कर उन्हें अपना शत्रु भी बना लिया।

रामफल 'जख्मी' को जन आन्दोलनों की पैदाइश कहा जा सकता है। उन्होंने जन आन्दोलनों में रहकर ही विकास किया और जीवन भर जन आन्दोलनों से जुड़े रहे। वे गरीबी के कारण औपचारिक शिक्षा हासिल नहीं कर पाए। जन आन्दोलनों में शामिल होकर उन्होंने समाज की जटिलताओं को समझा। तार्किक बुद्धि होने के कारण उन्होंने न केवल लोगों की समस्याओं को महसूस किया बल्कि उन्हें विश्लेषित भी करने लगे। बचपन से ही गाने का शौक रखने के कारण उन्होंने अपनी समझ को गीतों में ढालना शुरू कर दिया।

खुद रामफल जख्मी के शब्दों में -''बचपन से मुझे एक ही काम आता था, मैं अच्छा गा लेता था। इसी कला के कारण मुझे साक्षरता अभियान ने अपने साथ जोड़ा। मैंने बचपन में जो कुछ भुगता था उन अनुभवों को अक्षर मिलने लगे तो कई रागणियां लिखी और गाई। श्री आर.के.खुल्लर, आई.ए.एस. के साथ गुजरे दौर ने ना सिर्फ मुझे पढना-लिखना सिखाया बल्कि साहित्य चर्चा के द्वारा मेरे लिए एक नए संसार के दरवाजे खोले। साक्षरता अभियान में कार्य करते हुए मैंने जाना कि इसी धरती पर एक ऐसी दुनिया भी है जहाँ जाति-पाति, ऊँच-नीच तथा भेदभाव का नामो-निशान नहीं है। यहीं से रामफल सिंह 'जख्मी' का नया जीवन शुरू हुआ।''

साक्षरता अभियान ने उन्हें नया जीवन प्रदान किया। 1993-94 में भिवानी में साक्षरता अभियान चल रहा था जिसमें रामफल जख्मी भी अपना योगदान दे रहे थे। उस समय वे पी.डब्ल्यू.डी. विभाग में बेलदार के पद पर कार्यरत थे। उनकी रचनाशीलता को देखकर तत्कालीन एस.डी.एम. और वर्तमान में मुख्यमंत्री के प्रधान सचिव आर.के.खुल्लर ने उन्हें पढ़ाने का बीड़ा उठाया। खुल्लर साहब की मेहनत और रामफल जख्मी की लगनशीलता से जल्दी ही उन्होंने पढ़ना-लिखना सीख लिया। अब वे अपनी रचनाएँ खुद लिखने लगे। जोड़-जोडक़र अखबार व दूसरी रचनाएँ भी पढ़ने लगे।

साक्षरता और समाज-सुधार के गीत व सांग बनाए। कर्मचारी संगठन में रहते हुए विभिन्न आन्दोलनों में शामिल हुए। भिवानी में चले 'खानक पहाड़ को बचाने' के आन्दोलन में भी वे लगातार सक्रिय रहे- संगठनकर्ता के तौर पर भी और रचनाकार के तौर पर भी। उनकी रचनाओं ने जन आन्दोलनों में नई जान फूंकने का काम किया।

रामफल 'जख्मी' की रचनाएँ सामाजिक कार्यकर्ताओं की धरोहर हैं। उनकी अनेक रचनाएँ विभिन्न साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुई हैं। 'देश हरियाणा' पत्रिका के सम्पादक डॉ. सुभाष चन्द्र ने 'हरियाणवी लोकधारा : प्रतिनिधि रागनियाँ' नामक पुस्तक में उनकी रागनियाँ शामिल की हैं। 'सर्च' द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'कहे बिना न सरता' में भी उनकी रचनाएं हैं। 'सर्च' ने उनके साँग 'खाण्ड कसार' को प्रकाशित करने के साथ-साथ उनके गीत 'चुप की चुनरिया' को भी पुस्तक रूप में छापा है। उनकी रागनियां कैसेट्स में भी संकलित हैं।

वास्तव में रामफल 'जख्मी' उन विरले रचनाकारों में शामिल हैं जिन्हें भले ही दुनिया न जानती हो पर जमीनी स्तर पर जिन्होंने अपनी खास जगह बनाई और जिनके गीतों को सुनकर मन स्वत: ही नाच उठता हो। ●●

रामफल 'जख्मी 'की रागनी

तर्ज-आ लग ज्या गले दिलरूबा..

काम करैं अर भूखे सौवें, यू कैसा दस्तूर
यो बिल्कुल नहीं मंजूर

काम करणिया भूखा रहै यहां, मारै मोज लफंगा क्यूं
कपड़े त्यार करणिया माणस, दखे फिरता नंगा क्यूं
जात-धर्म पै कट-कट मरते, रोज रहै सै दंगा क्यूं
डाकू-चोर, दगेबाजों के, दीखैं घणै हिमाती क्यूं
गरीब आदमी को तंग करदे, रपट लिखी ना जाती क्यूं
खून करण के ठेके ले रे, इसे बजैं पंचाती क्यूं
तालीबानी फैसला कर के, मारैं बिना कसूर
यो बिल्कुल नहीं मंजूर

म्हारे बाळक कुपोषण तै, मरते बिना दवाई क्यूं
म्हारे बाळक भूखे रह ज्यां, उन की दूध-मळाई क्यूं
म्हारे आळे अनपढ़ रह ज्यां, उन की अलग पढ़ाई क्यूं
म्हारे बाळक साईकिल ले रे, चोरां ते रखवाळ करैं
उन के बाळक गाड़ी ले कै, सड़कां पै आळ करैं
म्हारे बाळक सीमा ऊपर, बाडर की संभाळ करैं
उनके बाळक लूट मचा रे, म्हारे सपने चकनाचूर
या बिल्कुल नहीं मंजूर

माणस नै माणस ना समझैं, बाजे इसे अन्यायी क्यूं
बाहण-बेटी की इज्जत तारैं, बाजे इसे कसाई क्यूं
थम हाथ पै हाथ धरे बैठे, थारै घणी समाई क्यूं
काम करणिऐ माणस का, टेक्या नाम कमीणा क्यूं
गरीब आदमी बोल सकै ना, मुश्किल सै जीणा क्यूं
विकास म्हं ज्यादा भागीदारी, फिर भी तू हीणा क्यूं
म्हारे हक सैं उन के काबू, हम राखे कोसों दूर
या बिल्कुल नहीं मंजूर

जहाज किराया सस्ता है, मोटर का महंगा भाड़ा क्यूं
म्हारी दांती-पाली खोस्सैं, जमींदार मन-पाड़ा क्यूं
कोये काजू और बदाम खावै, म्हारे चून का खाड़ा क्यूं
हम कामे हम हाथ जोड़ैं, वा क्यूं आंखें लाल करै
जब देखै गाळी दे दे, ना इज्जत का ख्याल करै
'जख्मी' का गडवाळा बण, मन मर्जी ते उराळ करै
तेरी जुल्म कहाणी छप ज्या, कल हो ज्या मशहूर
यो बिल्कुल नहीं मंजूर

●●

सम्पर्क : 94162-33992

किताबें ज्ञान का प्रवेश द्वार हैं

परमानंद शास्त्री

किसी व्यक्ति व समाज की बेहतरी में पुस्तकों की भूमिका निर्विवाद है, लेकिन पुस्तक पठन-अध्ययन-मनन की संस्कृति पर मंडराते खतरे की चिंता निरंतर यत्र-तत्र सुनने में आती है। इस संस्कृति के अवसान का मतलब होगा मनुष्यता का क्षरण। यह भी सही है कि कोई भी संस्कृति स्वत: ही नहीं पनपती, उसे पौधों की तरह खाद-पानी देना पड़ता है। इस विषय पर श्री परमानंद शास्त्री जी ने परिचर्चा आयोजित की है उसकी कार्रवाई यहां प्रस्तुत है। सं.

किताबों ने मुझे कई तरह से प्रभावित किया। स्कूली शिक्षा के दौरान अपने बड़े भाई का अनुकरण किया वे गजब के पुस्तक-प्रेमी हैं। तब तक मुझे किताबों के बारे में बहुत समझ भी नहीं थी लेकिन सामने रखी किताबें मानो पढने के लिए खुद बुला रही होती। आज उस स्थिति को याद करता हूँ तो समझ आता है कि मेरी अध्ययनशीलता में घर में रखी किताबों की कितनी बड़ी भूमिका थी। हमारे मां-बाप को भी सिलेबस से बाहर की ये किताबें अखरती नहीं थी।

आज बच्चों के लिए सिलेबस से इतर कोई किताब घरों में नहीं है । शायद उन किताबों को शिक्षा में बाधक मान लिया गया है ? इसी कारण आज हमारे मध्यमवर्ग के परिवारों में किताबों के लिए कोई कोना नहीं बचा है। यानी बच्चे केा अतिरिक्त ज्ञान हासिल कर सकने का रास्ता बंद है।

एक बार विश्वपुस्तक दिवस पर एक निजी शिक्षण महाविद्यालय में बी.एड. व एम. एड. के छात्रों से बात करने का अवसर मिला। मेरे प्रश्न के उत्तर में वहां उपस्थित 300 छात्रों में से एक ने भी सिलेबस से हटकर कोई भी किताब नहीं पढने की बात ईमानदारी से स्वीकार की । फिर उन छात्रों ने अनौपचारिक बातचीत में बताया कि आजतक न तो किसी ने सिलेबस से इतर किताबों के बारे में बात की और न ही हमें पढने को पुस्तकें मिली। कुछ विद्यार्थियों को अफ़सोस हो रहा था कि उन्होंने आज तक सिलेबस से हटकर एक भी किताब नहीं पढ़ी और अध्यापक बनने जा रहे हैं।

कालेज जीवन तक आते-आते पढने की प्रवृति ने स्पष्ट रूप ले लिया था। एक अच्छी खासी अध्ययनशील मित्रमंडली से सम्पर्क हुआ। जो किताबें पढ़ी जाती उन पर जबरदस्त बहस होती । इसी दौरान पढ़े प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' ने गहरे तक प्रभावित किया। लगा हमारे घर-परिवार की ही कहानी है । गोर्की के 'मां' उपन्यास ने तो अंदर तक झकझोर दिया। उसके पात्रों का व्यवहार क्षेत्र विशेष का होने के बावजूद अपने आसपास का लगा। दिल से हूक सी उठती है काश दुनिया की सब माएं ऐसी हो जाएँ ? अब जब मां नहीं है तो पश्चाताप हो रहा है कि 'मां' उपन्यास की कहानी उसे क्यों नहीं सुनाई? वोरिंस पोलेवोई के 'असली इंसान' ने बदतर हालात में अपने मकसद के लिए जीने की तमीज़ सिखाई । इन्हीं दिनों पंजाबी के उपन्यासकार जसवंत कंवल के उपन्यास 'रात बाकी है' लहू की लौ ,पढने को मिले । गुरदयाल सिंह का उपन्यास 'मढ़ी का दीवा' पढकर अपने समाज की कई परतों को समझने का मौका मिला। शिव कुमार बटालवी, अवतार सिंह पाश, संत राम उदासी ,लाल सिंह दिल को पढ़ते-सुनते अपनी समझ पर संतोष होने लगा। जूलियस फयूचिक की रचना 'फांसी के तख्ते से' पढ़कर जाना कि ''मौत हमारे कयास से भी साधारण है ,वीरता दैवीय चमत्कार नहीं और जीतने के लिए अजेय शक्ति की जरूरत है। इस किताब से मालूम हुआ कि अपने आदर्श के लिए किस हद तक जूझने की दरकार होती है। इस पुस्तक का एक अंश हमेशा याद आता है -एक कायर अपने जीवन से अधिक बहुत कुछ खो देता है। उसने अपने शानदार फर्ज के साथ गद्दारी की और सबसे घिनौने दुश्मन के आगे हथियार फेंक दिए। बेशक वह जिंदा रहा,पर फिर भी वो मर चुका था क्योंकि उसने अपने भाईचारे से खुद को अलग कर लिया था''। आरसी, प्रीत लड़ी, नागमणि, समता, प्रचंड, महरम आदि पत्रिकाएं पढने से साहित्य एवं समाज को और गहरे से समझने की दृष्टि हासिल हुई । ज़ाहिर है किताबों से प्राप्त समझ ने अपना रंग दिखाना ही था। छात्र जीवन की सक्रियता के बाद अध्यापन में भी किताबों ने अपना रंग बिखेरा। अध्यापन के दौरान छात्रों को सिलेबस से इतर ज्ञान इस तरह की किताबों की बदौलत ही दिया जा सकता है। तमाम सीमाओं के बावजूद अध्यापन के साथ-साथ सामाजिक चेतना के आंदोलनों में शिरकत इन किताबों से उत्पन्न संवेदनशीलता की बदौलत ही संभव हो सकी। अपने लोगों के कष्ट को जानने / समझने और उसे वाणी देने की तमीज किताबों की बदौलत ही हासिल हुई ।

विद्यालयों में पुस्तकालयों की दशा से आप सब परिचित हैं। सोचा छात्रों के हित में अपने विद्यालय के पुस्तकालय को सक्रिय करें। सहयोगी अध्यापकों से बात की तो कुछ ने सकारात्मक रुख दिखाया लेकिन एक अध्यापक ने तो यहाँ तक कह दिया -''यो ससुरे अपने सिलेबस की किताबें तो पढ़दे कोनी ,लायब्रेरी वाली किताबें कित्ते पढ़ लेंगे'' हमारे अधिकतम अध्यापको की ऐसी ही धारणा है। लेकिन मेरा अनुभव इसके बिल्कुल विपरीत था। कुछ सकारात्मक सोच वाले अध्यापक मित्रों की मदद से अपने विद्यालय में प्रयोग की शुरूआत की। प्राचार्या से अनुमति लेकर एक कमरे को कबाड़ मुक्त करके सफ़ेदी

करवाई। पुस्तकालय प्रभारी अध्यापक से अनुरोध करके संचालन की अनुमति ली। इस दौरान एक बात समझ में आई कि यह प्रयोग केवल छात्रों की सक्रिय भूमिका से ही सफल हो सकता है। लिहाजा विद्यालय की एक छात्रा को उद्घाटन का जिम्मा सौंपा। गांव की पंचायत, गणमान्य ग्रामीणों, स्टाफ एवं छात्रों की मौजूदगी में उस लड़की ने रिबन काटकर उद्घाटन किया। तथा अपनी बालबुद्धि के अनुरूप वक्तव्य में पुस्तकों की उपयोगिता बताई। इस अवसर पर किसी अन्य को बात कहने का अवसर नहीं दिया गया। प्राचार्या से अनुरोध करके सप्ताह में हर कक्षा का एक पीरियड पुस्तकालय के लिए निर्धरित करवा लिया। फिर जो हुआ वह अद्भुत था। छात्रों को लगा यह सब कुछ अपना है। भगतसिंह के नाम पर स्थापित यह पुस्तकालय पूर्णतया लोकतांत्रिक व्यवस्था का रूप धारण कर गया । 200-300 किताबें मेज पर खुले में पड़ी रहती, बच्चे खुद किताबें इश्यु कर लेते और अपने हस्ताक्षर से ही जमा कर देते छात्रों में किताबें पढने के ऐसे जनून की उम्मीद तो मुझे भी नहीं थी। चारेक महीने बाद पुस्तकालय की किताबें नहीं पढने की बात कहने वाले मेरे वही अध्यापक साथी एक छात्र का कान पकडे मेरे पास पुस्तकालय में आकर बोले -''इसने देक्खो, यो बटा सिलेबस की किताब में लायब्रेरी की किताब राक्ख्के पढ़न लाग रह्या था ,इसने समझाओ कि सिलेबस की किताब भी पढ लिया करे कदे।'' मैंने देखा बच्चा मेरी तरफ आशाभरी भरी नज़रों से देख रहा था। यह व्यवहार बच्चों की अध्ययनशीलता की सम्भावना को स्पष्ट करने के लिए काफी है। पुस्तकालय में बच्चे दौड़े चले आते। पुस्तकालय में अपनी पुस्तक पढने के बाद उसकी कहानी सुनाने का उत्साह देखने लायक होता था। छात्र अपने परिजनों के लिए पुस्तकें ले जाने लगे। इस दौरान बहुत से अध्यापक भी अध्ययन प्रक्रिया से जुड़े। पुस्तकालय सांस्कृतिक गतिविधियों के केंद्र के रूप में उभरा। पुस्तकालय में समय-समय पर जातिप्रथा, कन्या-भ्रूण हत्या, संस्कृति, शिक्षा, व्यक्तित्व निर्माण में पुस्तकों की भूमिका आदि विषयों पर डी.आर. चौधरी, राजीव गोदारा, हरभगवान चावला, सुरेश मेहता, प्रमोद गौरी, पूरन मुदगिल, डॉ जय प्रकाश आदि विद्वानों ने विचार व्यक्त किए। यह पुस्तकालय दूसरे अध्यापकों के लिए भी प्रेरणादायी बना। इससे इतना तो स्पष्ट है कि अगर अध्यापक संवेदनशील एवं समर्पित भाव से कार्य करें तो ज्ञान की प्रवेश द्वार पुस्तकों से छात्रों का जुडाव कोई असंभव कार्य नहीं है। हालात को कोसने की बजाय प्रयास करने की जरूरत है ।

अब पुस्तकें जीवन का मकसद हैं । मेरा मानना है कि बेहतर समाज के लिए वैचारिक रूप से समृद्ध व्यक्तियों की ज़रूरत है । पुस्तकें विचार निर्माण का सहज मार्ग हैं। मुझे यकीन है कि ज्ञान ही परिवर्तन का माध्यम है। पुस्तकें ज्ञान का प्रवेशद्वार हैं। वैचारिक दरिद्रता किसी भी समाज के लिए घातक है।

अगर आप अपने समाज के विद्रूप चेहरे को समझना-समझाना ,बदलना -संवारना चाहते हैं तो किताबों से बेहतर दूसरा सहयोगी कौन है ? अगर आप नई दुनिया का संकल्प साकार करना चाहते हैं तो नवनिर्माण के लिए एक हाथ में औजार और दूसरे में किताब की ज़रूरत है । अगर लोगों के जेहन में शब्दों के बीज बो रहे हैं तो यक़ीनन एक दिन वहां विचारों की फसल लहलहाएगी।

'शिवेतरक्षतये' (अमंगल के क्षय के लिए) यही एकमात्र रास्ता है ।

अधिकाधिक लोगों को पुस्तकों से जोड़ने के मकसद से मैंने बहुत सी साहित्यिक / सामाजिक संस्थायों से तालमेल स्थापित किया है। इन संस्थायों के कार्यक्रमों में हमारे अनुरोध पर कुछ प्रकाशनों तथा पुस्तक विक्रेताओं द्वारा लगाई 'पुस्तक प्रदर्शनी' की निरंतरता और उनमें बिकने वाली पुस्तकों की संख्या किताबें न पढ़ने के दावों को खारिज करती है। बल्कि मुझे लगता है कि अच्छी पुस्तकों का विकल्प लोगों के पास है ही नहीं। हमारे मित्र अजैब सिंह और शमशेर सिंह के नेतृत्व में एक प्रकाशन के सहयोग से साठ दिन की पुस्तक यात्रा को ज़बरदस्त समर्थन मिला। बहुत से छात्रों और नौजवानों अपनी औकात से बढ़कर किताबें खरीदी। लोगों में सार्थक साहित्य की ललक है। लेकिन उसकी उपलब्धता और सार्थक साहित्य पर गम्भीर चर्चा की कमी है।

कुछ दिन पूर्व लड़की ने आकर कहा -''बस स्टैंड ,रेलवे स्टेशन पर मिलने वाली किताबें सामान्य ज्ञान से संबंधित अथवा बहुत ही सतही किस्म की होती हैं, तो ऐसे में अच्छी किताबें कहाँ से खरीदें? अपने शहरों में पढने लायक किताबें नहीं मिलती इनके लिए दूर किसी बड़े शहर में जाना होगा ऐसा क्यों?'' मैं सवाल का क्या जवाब देता? साफ़ है, बाजार में बेहतर साहित्य आसानी से उपलब्ध ही नहीं है।

व्यक्ति के जीवन में सीखना सहज और अनिवार्य प्रक्रिया है। लेकिन इधर शिक्षा या सीखने कीस्वभाविक प्रक्रिया को नियंत्रित किया जा रहा है। व्यक्ति के सीखने की प्रक्रिया को बाधित करके बाजार अपने लिए अपने ढंग से सिखाने में जुट गया है। बाज़ार ने मान लिया है कि संवेदनशीलता के रास्ते में सबसे बड़ा अवरोधक है, जबकि बेहतर समाज व बेहतर बाजार दोनों के लिए संवेदनशील व्यक्तियों की दरकार है।

सम्पर्क 9416921622

●

पिंकी

किताबें पढ़ने से मेरी सोच का दायरा बढ़ा है। जीवन से जुड़ी किताबों को पढ़ा तो महसूस हुआ कि जीवन में कितना संघर्ष करना पड़ता है। किताबें दूसरों के अनुभवों से कुछ सीखने का मौका देती हैं इस तरह किताबों के माध्यम से मैंने भी दूसरों के अनुभव से बहुत कुछ नया सीखा। किताबों से जुड़ने से पहले जिस तरह मेरे सोचने-समझने पर दूसरों का नियंत्रण था अब स्थिति वैसी नहीं है। अब मैं खुद सोच सकती हूँ कि मुझे क्या करना है। मैंने लड़की होने के नाते हमेशा अपने आप को बहुत छोटा महसूस किया,जब मुझे महिलाओं के जीवन संघर्ष से जुडी किताबें पढने का अवसर मिला और जाना कि वे किस तरह निरंतर अपने जीवन में संघर्ष करती रहीं तो मेरे अंदर भी यह हिम्मत आई कि लड़की हूं तो क्या मैं अपने आपको साबित करके रहूंगी। पुस्तकें पढने के बाद ही मैं समाज की समस्याओं के बारे में सोचने लगी लेकिन साथ ही मन में आता कि क्या सिर्फ सोचने भर से समस्याएं दूर हो जाएंगी? फिर महसूस हुआ कि सोचना बेकार नहीं होता। सोच सें विचार बनेगा और विचार से तर्क। तर्क से समस्यायों के समाधान का रास्ता समझने में सहायता मिलेगी।

सिरसा मो. 8221807110

माला कुमारी

किताबें मैं पहले भी पढ़ती थी लेकिन वे काल्पनिक थीं। उन किताबों को पढ़ते हुए

मुझे लगता था कि जब इन किताबों का जीवन की वास्तविकता से कोई वास्ता नहीं है तो लोग इन्हें पढ़ते क्यों हैं ?

केवल मनोरंजन के लिए किताबें पढना मुझे पसंद नहीं था। इस तरह किताबों को लेकर एक अरुचि सी थी। इन दिनों वस्तविक जीवन से जुडी कुछ किताबें पढने का अवसर मिला। किताबें पढने से मेरे जीवन में क्या परिवर्तन आया मुझे नहीं पता पर हाँ एक फायदा अवश्य हुआ कि किताबें पढने से मेरा दृष्टिकोण व्यापक हुआ और समाज को समझने की दृष्टि हासिल हुई। जब हम पढ़ी हुई चीजों के समान परिस्थितियां देखकरं संवेदनशून्य नहीं रह सकते चाहे तो उनमें परिवर्तन कर पायें या नहीं। मैं भले ही चीजों को न बदल सकूं लेकिन गलत-ठीक में अंतर कर सकने की दृष्टि होना ही मेरे लिए काफी है।

सिरसा - 9468246635

●

रवीन्द्र कुमार कुम्हारिया

किताबें पढ़ते-पढ़ते जो सबसे पहली बात जानी वो यह है कि किसी व्यक्ति को किताबों के गुणदोष बताकर किताबों का महत्व नहीं समझाया जा सकता। इनकी गहराई जानने को तो स्वयं ही इनमें डूबना पड़ेगा। मेरे लिए शुरुआत में किताबें एक ऐसा झरोखा थीं

जिसमें से झाँककर हम इतिहास को देख पाते हैं। परन्तु अब किताबों को एक दहलीज सा पाता हूँ यहाँ खड़े होकर इतिहास की गलतियों से सीखकर और भविष्य की चुनौतियों को स्वीकार कर हम अपना वर्तमान संवार सकते हैं ।

जब कभी हम अपने विचारों के साथ अकेले चलते-चलते थककर लड़खड़ाने लगते हैं तब किताबें हम राही बनकर सुकून देती हैं। किताबें गूंगे व अंधे लोकतंत्र को आवाज और आँखें देती हैं। वे किताबें ही थी जिन्होंने भगत सिंह को भगत सिंह बनाया। लेखक मारे जा सकते हैं उन्हें लिखने से भी रोका जा सकता है पर किताबें फिर भी बोलती हैं ।

सिरसा -8053820082

●

प्रियंका

मैंने पढना शुरू किया तो मैं सिर्फ समय बिताना और मनोरंजन करने को ही पढना समझती थी। लेकिन कुछ समय बाद मैं किताबों की कहानियों

के पात्रों व विषय-वस्तु को महसूस करने लगी। जो भी मैं पढ़ती एकदम ऐसा लगता कि यही सब कुछ तो मेरे साथ भी हो रहा है और इसे मैं बदल सकती हूं। अब मुझे यह महसूस होता रहता है कि मैं जो पढ़ रही हूँ उसके मुताबिक कुछ कार्य करूं। अगर कहीं कुछ गलत है तो उसे कैसे बदला जाए, यही मेरे दिमाग में चलता रहता है। मैं अपने अंदर ही अंदर उसे महसूस तो कर लेती हूँ लेकिन उसे कैसे अपने जीवन में लागू करूं यह समझ नहीं आता। पढने के बाद मेरा मन बेचैन हो जाता है, मैं अपने आप को एक अलग ही दुनिया में पाती हूँ। अब पढने को कुछ न मिले तो खालीपन का अहसास होता है। लेकिन कभी-कभार ऐसा भी लगता है कि किताबें पढ़ने के प्रयास में मैं दूसरों से कटती जा रही हूं। किताबों से मैंने इतना सीखा है कि मुझे कुछ करना है। क्या करना है यह नहीं मालूम। क्या कभी पढने से मेरे 'क्या' का उत्तर मिलेगा? *अहमदपुर सिरसा*

●

पूजा

मैंने जितनी भी किताबें पढ़ी हैं उन्हें पढ़कर

यह लगा कि हमें केवल धर्म या आध्यात्मिकता से जुडी किताबें ही नहीं पढनी चाहिए बल्कि उन किताबों को भी पढना चाहिए जिनमें सामाजिक परिवेश के बारे में, स्त्रियों की स्थिति के बारे में भी पता चले। प्रत्येक मां-बाप यह सोचते हैं कि उनके बच्चे अच्छी अध्यात्मिक किताबें पढ़ें या फिर सिलेबस से संबंधित। मेरा अनुभव तो यह है कि बच्चों को हर तरह की किताबें पढ़नी चाहिए ताकि वे सामाजिक स्थितियों के बारे में ,व्यक्ति के जीवन के उतार-चढ़ाव और परेशानियों को ठीक से जान-समझ सकें तथा उन परिस्थितियों से निपटने की योग्यता हासिल कर सकें । *आदमपुर*

●

संजू

किताबें हमारी सबसे अच्छी मित्र हैं । ये हमें वास्तविकता से अवगत करवाती हैं। पुस्तकों के द्वारा ही हमें दूसरों के अनुभवों व विचारों को जानने-समझने का अवसर मिलता

है। पुस्तकें हमें कुछ अलग करने के लिए प्रेरित करती हैं। पुस्तकें हमारे अंदर वो ताकत पैदा करती हैं जिससे हम खुलकर अपनी बात दूसरों के सामने प्रकट कर सकते हैं। वो बातें कहीं और से नहीं जान सकते जो हमें किताबें पढने से पता चलती हैं। हमें सफलता अच्छे और सुस्पष्ट विचारों से मिलती है और अच्छे विचार किताबें पढने से प्राप्त होते हैं । किताबें हमारे अनुभवों को आवाज देती हैं ।

खाई शेरगढ़ सिरसा-7027402551

●

जगजीत सिंह

अध्ययन से जुड़ने से पूर्व जिंदगी को जी रहे थे एक पत्थर की मूर्ति मानिंद। अध्ययन से यह मूर्ति प्राणवान हो उठी। हर पहलू को जानने/समझने की उत्सुकता बनी रहती है। खुद को जानने का और अपने अस्तित्व को समझने का रास्ता अध्ययन से रोशन दिख रहा है। यह नजर अध्ययन से आई है। इंसानियत की मोमबत्ती को ज्वाला मिल चुकी है। इस कायनात से जुड़े हर पहलू को समझ रहे हैं। खुद को खुद के और इंसानियत के और ज्यादा करीब लाने का कार्य अध्ययन से ही संभव हुआ है ।

वनवाला, सिरसा

●

रचना

मैंने दोनों ही स्थितियों में किताबें पढ़ी हैं । जब वक्त था पर मन नहीं था और जब मन था पर वक्त नहीं था। किताबें पढ़कर मुझमें कुछ खास परिवर्तन नहीं आया पर यूं जरुर है कि कुछ नया जानने समझने और सोचने को मिला ।

वहीं किताबें पढ़कर कहीं-कहीं हम खुद भी तो सब कुछ अनुभव कर रहे होते हैं। वैसा उसे कह नहीं पाते। किताबें हमारी भावनाओं को शब्द देती हैं। अभी तक मैंने जो भी पढ़ा है उससे कुछ न कुछ सीखा ही है। मैंने अनुभव किया है कि कहीं न कहीं किताबें हमें गलत के प्रतिरोध के लिए उत्तेजित करती हैं। किसी को गलत और सही समझने या मानने के लिए तर्क देती हैं। मैंने सिर्फ'टाइम पास' के लिए पढना शुरू किया था पर कुछ किताबें तो ऐसी थीं जिन्होंने दिमाग में उथल-पुथल मचा दी, सोचने पर मजबूर कर दिया कि एक लेखक किसी की आंतरिक अनुभूतियों को कैसे जान लेता है और उन्हें इतना खुलकर लिख भी देता है ।

किताबें खाली समय में मनोरंजन तो करती ही हैं साथ ही हमें व्यक्तिगत सोच से परिचित भी करवाती हैं । असल में समाज, घर-परिवार में हमें जो माहौल मिलता है उसके अनुसार ही हमारी सोच निर्मित होती है। परन्तु किताब के किसी पात्र के बारे में पढ़कर हम जब उसके पक्ष या विपक्ष में होते हैं तब हम जान पाते हैं कि हमारी खुद की सोच या चाह क्या है। मुझे अब तक पढ़ी कुछ ऐसी किताबें भी याद हैं, जो फिर से पढने व दूसरो को पढने के लिए प्रेरित करने की इच्छा है।

किताबों को लेकर मैं इतना जरुर कह सकती हूँ कि ये हमें वास्तविकता से परिचित करवाती है, सोचने के लिए मजबूर करती हैं ,प्रतिरोध व खुद का पक्ष रखने की समझ भी विकसित करती हैं। किताबें हमें वो सब सिखा देती हैं और ऐसे-ऐसे विषयों के बारे में सोचने का अवसर देती हैं जो घर-परिवार, समाज, अध्यापक चाहकर भी नहीं दे सकते ।

सिरसा -9467364746

●

डॉ. (श्रीमती) आशुतोष के गीत

14 अप्रैल डा. भीमराव आम्बेडकर जयंती के उपलक्ष में ब्रज गीत

ब्रजभाषा गारी

भीमाबाई ने लाल जायो, लाल भयो औतारी
रंग बरसेगो हां-हां भीम रंग बरसेगो

नामकरण को दिन जब आयो
नाम भीम धरवायो, रंग बरसेगो।
रंग बरसेगो हां-हां भीम रंग बरसेगो

पांच बरस को भयो भीम
विद्या पढ़ने धायो, रंग बरसेगो।
रंग बरसेगो हां-हां भीम रंग बरसेगो

देश-विदेशों पढ़ो म्हारो बाबा
तो बैरिस्टर बन आयो, रंग बरसेगो।
रंग बरसेगो हां-हां भीम रंग बरसेगो

सभी सुखी दलित रहे मेरे
ऐसो विधान बनायो, रंग बरसेगो।
रंग बरसेगो हां-हां भीम रंग बरसेगो

दलितों का उद्धार करन को
बाबा ने बीड़ा उठायो, रंग बरसेगो।
रंग बरसेगो हां-हां भीम रंग बरसेगो

मथुरा वाली डॉ. आशुतोष ने
बिहंसि बिहंसि जस गायो, रंग बरसेगो।
रंग बरसेगो हां-हां भीम रंग बरसेगो

2

ब्रजभाषा लोकगीत

जन्मदिन बाबा को मनाउंगी - टेक
नांहि माने मेरो मनवा।

बाबा सच्चो देव हमारो
उन्ने करो दलित निस्तारो
मैं वाहि के गुण गाउंगी,
नाहि माने मेरो मनवा।

देख लिए मैंने सब सुर देवा
बहुत करी मैंने इनकी सेवा
अब इनके कहे में ना आउंगी।
नाहि माने मेरो मनवा।

राम की नवमी, दुर्गा अष्टमी
इनके चक्कर में, मैं भरमी
अब लांगूर कबहु न गाउंगी।
नाहि माने मेरो मनवा।
काली मैया, देवी दुर्गा
ये तो मांगे बकरा-मुर्गा
अब कबहुं न जीव सताउंगी।
नाहि माने मेरो मनवा।

सीख आषुतोष की मैं मानूंगी
बाबा की मूरत चित धारूंगी
मैं तो वाही के बलि-बलि जाउंगी।
नाहि माने मेरो मनवा।

3

ब्रजभाषा सपरी गीत

पैदा हो गये भीम ललनवा, कैसी सपरी-टेक
कैसी सपरी रे बाबा कैसी सपरी।

जा दिन जनम् भयो लाला को
खुशी भई अति भारी
बड़ी खुशी मालव जी को छाई
खुशी भई महतारी।
घर में डालो रे पलनवा कैसी सपरी।

गोरो-गोरो अंग कुंवर को
गेरू सो लागे
डटे न सुत पे नजर सोय के
जब लाला जागे
मता देखे रे उठनवा कैसी सपरी ।
दिन-दूनी और रात चौगुनी
बढ़ने लागी बेल
पांच बरस को भयो भीम
बच्चों संग खेल खेल
मन में हो हो के मगनवा कैसी सपरी।

●●

हिन्दी प्रख्याता
राजकीय महाविद्यालय, जाटौली, हेलीमण्डी, गुड़गांव
(हरियाणा)सम्पर्क 8684911862

विशेष आलेख

प्रेमचंद से दोस्ती

विकास नारायण राय

महान लेखक प्रेमचंद के साहित्य से हर कोई परिचित है। उनके साहित्य में तत्कालीन सामाजिक शक्तियों की टकराहट-संघर्ष-आंदोलन स्पष्टत: मौजूद हैं। विकास नारायण राय का प्रस्तुत विशेष आलेख प्रेमचंद की विचारधारा को उनकी कहानियों के भीतर से समझने का उपक्रम है।

नमक का दरोगा यानी प्रेमचंद बकलम खुद

मैंने संक्षेप में ग्यारह वर्षीय उन्नयन को 'नमक के दरोगा' युवा वंशीधर की कहानी सुनाई कि कैसे लाख प्रलोभन के बावजूद उन्होंने नमक की तस्करी में लिप्त जाने-माने रईस व्यापारी-जमींदार अलोपीदीन की गाड़ियों को जब्त कर उसे गिरफ्तार किया और कैसे पैसे/रसूख के दम पर अलोपीदीन तो तुरंत बाइज्जत बरी हो गये पर वंशीधर को नौकरी से मुअत्तली मिली। यही नहीं, वंशीधर की ईमानदारी एवं कर्तव्यनिष्ठा से प्रभावित अलोपीदीन ने उन्हें अपनी तमाम एस्टेट का मैनेजर बनाने का फरमान उनके घर जाकर दिया और अंत में दोनों गले भी लगे। उन्नयन की सशंय भरी टिप्पणी थी— क्या अलोपीदीन ने तस्करी छोड़ दी?

प्रेमचंद अपनी लेखनी को लेकर बेहद स्पष्ट होना चाहते तो उन्नयन के इस सवाल का जवाब भी कहानी में एक या दो पंक्तियों में आ गया होता। तब भी कहानी में ध्वनि यही है कि अलोपीदीन ने बेशक बेमुरौवत दरोगा से समझौता किया पर तस्करी के अपने धन्धे से समझौता नहीं किया, और न ही वंशीधर ने उनकी मैनेजरी स्वीकारते हुए ऐसी कोई पूर्व-शर्त ही रखी। इसी ध्वनि ने उन्नयन को निराश किया होगा। एक कहानी जिसे कहानीकार ने अपनी ओर से श्रद्धा, उमंग और मैत्री के नोट पर समाप्त किया हो, उसे अपने ग्यारह वर्षीय पाठक को निराश नहीं छोड़ना चाहिए। जब मैंने प्रेमचंद की कहानियों का एक वृहद संकलन पूरा किया तो ऐन प्रेस में जाने के समय 'नमक का दरोगा' को हटा लिया। मुझे लगा इस कहानी को संकलन में डालना अपने नायक प्रेमचंद के साथ साहित्यिक अन्याय करने जैसा न हो जाय।

तब भी काफी दिनों तक कुछ न कुछ द्वंद्व रहा। कहीं कहानी के शीर्षक में ही तो कुछ छिपा नहीं है— विद्रूप या व्यंग्य, अंग्रेजी राज की छद्म नैतिकता और उसके प्रति भारतीय मानस की गुलाम वफादारी को लेकर? पर कहानी शुरूआत से बताने लगती है कि मामला ऐन नमक की तस्करी से न कुछ ज्यादा है न कम, और कहानी का घटनाक्रम निहायत साधन सम्पन्न तस्कर की मुहिम और व्यक्तिगत ईमानदारी पर डटे दरोगा के तनाव के गिर्द चला है। प्रेमचंद के यशस्वी पुत्र अमृतराय जरा भी शक या शुबहे का शिकार नहीं हैं— 'घूसखोरी हमारी रोजमर्रा की जिन्दगी का आज जैसे एक हिस्सा हो गई है, वैसे तो शायद पहले कभी नहीं थी, और यहां-वहां कुछ गिने-चुने लोग उसके इन्द्रजाल से बचकर निकलते भी दिखाई पड़ते हैं, जिससे मन में एक फुरहरी सी होती है, नयी आशा का संचार होता है। फिर 'नमक का दरोगा', जैसी कहानी की प्रांसगिकता में क्या संदेह है।'

वैसे प्रेमचंद के लिए इसी कहानी में उन्नयन की निराशा की काट देना भी क्या मुश्किल था। कहानी के क्लाइमेक्स में, सम्मानित तस्कर अलोपीदीन मुअत्तल दरोगा वंशीधर से, स्वयं के ब्राह्मणत्व और वंशीधर की अडिग ईमानदारी की दुहाई देने की कवायद में, तस्करी त्यागने का ऐलान भी शामिल कर सकता था। यह प्रेमचंद के अपने नायक गांधी के 'हृदय परिवर्तन' के समीप भी होता, बेशक कहानी कुछ और सपाट हो जाती जैसे उनकी एक और हृदय-परिवर्तित दरोगा की कहानी 'जुलूस' भी कुछ हद तक हो जाती है। कहानी 'नमक का दरोगा' 1919-20 में लिखी गयी और गांधी का भीषण 'असहयोग आन्दोलन' 1921 में आ रहा था। 1921 में ही प्रेमचंद ने सरकारी नौकरी से इस्तीफा भी दिया।

1930 में, जब प्रेमचंद गांधी के पूरे प्रभाव में रहे होंगे, उन्होंने बनारसीदास चतुर्वेदी को दिये साक्षात्कार में 'नमक का दरोगा'को अपनी तब तक लिखी दो सौ से ऊपर कहानियों में तीसरे स्थान पर रखा। इसी साक्षात्कार में आगे उन्होंने कहा— 'इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि इस स्वराज-संग्राम में विजयी हों। ये वही प्रेमचंद हैं जिनकी नवंबर 1928 में 'साप्ताहिक 'भारत' में 'खूनी' नामक कहानी प्रकाशित हो चुकी थी। 'खूनी'में नाटकीय हृदय परिवर्तन भी होता है और यह कहानी को सपाट भी बनाता है। पर 'खूनी' में हृदय-परिवर्तन समाज-द्रोही (देश-द्रोही) वकील का नहीं, वरन् प्रतिशोध की आग में धधकती उसकी पत्नी का होता है, जो अंत में पति का खून करने वाले क्रान्तिकर्मी के ही पक्ष में हो जाती है। क्योंकि बतौर सरकारी वकील, पति शिक्षा प्रचार और परोपकार (क्रांति-कर्म) में लगे युवकों की गर्दन पर कानून की छुरी चलवाता रहा है। अभी प्रेमचंद में यह दम नहीं था कि वे कहानी में 'देश-द्रोही'और 'क्रांतिकारी' शब्दों का प्रयोग करते। पर उनका अभीष्ट समझना मुश्किल नहीं है— वह गढ़ी हुई गवाहियों के दम पर क्रांतिकारियों को अंग्रेजी राज द्वारा फांसी के तख्ते पर और यातना-गृहों में भेजने का दौर

था और भारतीय मूल के सरकारी वकील, आम लोगों की चेतना में, सबसे बड़े गद्दारों के रूप में स्थान पाते थे। कहानी में लाहौर और शाहजहांपुर का जिक्र बहुत मौजू है— लाहौर क्रांतिकारियों पर मुकदमों के कारण और शाहजहांपुर काकोरी के शहीद अशफाक उल्ला की नगरी के नाते। काकोरी काण्ड के चार वीरों को दिसम्बर 1927 में फर्जी कानूनी कार्यवाही के दम पर फांसी पर चढ़ाया गया था, और 'खूनी' कहानी उसके चंद महीनों बाद की ही उपज है।

पर 'खूनी' को 'नमक का दरोगा' की कुंजी मानने से पहले 1920 तक के अंग्रेजी राज के कर्मचारी प्रेमचंद पर एक नजर जरूरी है। 1908 में पदोन्नत होकर वे सरकारी स्कूलों में डिप्टी इंस्पेक्टर हो चुके थे और 1919-20 में नौकरी में बदस्तूर कायम थे, जब कहानी 'नमक का दरोगा' लिखी गयी। 1921 में उन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। पर तब भी जो लेखक दस साल बाद की कहानी (खूनी) में भी गद्दार को गद्दार और क्रांतिकारी को क्रांतिकारी नहीं कह पा रहा हो, वह नौकरी रहते सावधान और विचक्षण (subtle) हो, तो स्वाभाविक ही है। 1930 के साक्षात्कार में उन्होंने 'स्वराज-संग्राम' के सीधे समर्थन का साहस किया, तो इसलिए कि तब तक स्वराज शब्द ब्रिटिश-राज की नजरों में क्रान्तिसूचक न रहकर कांग्रेस से सौदेबाजी की कवायद का हिस्सा हो चुका था। 1929 के लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस का पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव आ चुका था।

1908 से 1920 के बीच प्रेमचंद छह वर्ष यानी 1914 तक महोबा के हमीरपुर में रहे, और फिर नौकरी में बस्ती व गोरखपुर के बीच। 1915 से इस्तीफा देने तक वे सरकारी स्कूलों में शिक्षक (हेडमास्टर भी) रहे। आल्हा-ऊदल के महोबा ने उनसे 'रानी सारन्धा', 'राजा हरदौल', 'विक्रमादित्य का तेगा' जैसी जातीय स्वाभिमान से भरी कहानियां तो लिखवाईं, पर इसी दौर के एक प्रकरण से उनके व्यक्तित्व में विद्यमान सरकारी चाकर पर भी रोशनी पड़ती है। 1908 में प्रकाशित उनके पहले कहानी संग्रह 'सोजे वतन' को हमीरपुर के कलेक्टर ने विद्रोहात्मक मानकर खुद प्रेमचंद से ही जलवा दिया और भविष्य के लिए उन्हें चेतावनी दी। नौकरी के दौरान प्रेमचंद ने और भी बहुत कुछ बर्दाश्त किया होगा। 1919 में जलियांवाला बाग का शैतानी नरसंहार हुआ, जिसका प्रेमचंद पर भी गहरा असर हुआ होगा— हालाँकि प्रेमचंद की रचनाओं में यह प्रकरण नदारद रहा।

अंग्रेज हाकिम के हाथों हिन्दुस्तानी कारिंदे को मिलने वाला अपमान, जिसका उनको नौकरी के दौरान सामना होता ही होगा, भी काफी बाद में प्रेमचंद की रचनाओं में आ पाया। इस अपमान के प्रतिरोध की प्रत्यक्ष हिम्मत प्रेमचंद ने 'पत्नी से पति' (1930) जैसी इक्का-दुक्की कहानी में दिखायी, जिसमें पत्नी के कांग्रेसी जलसे में भाग लेने के कारण अंग्रेजपरस्त होते हुए भी सुपवाइजरी ओहदे के पति दीनानाथ सेठ को दफ्तर में जब अंग्रेज हाकिम के हाथों गाली के बाद रूल से भी पिटने की नौबत आ गयी, तो उन्होंने भी पलटकर हाकिम को घूंसा जड़ दिया और नौकरी को लात मार दी।

पर राज के नौकर की मनःस्थिति को जीते हुए यदि आहत प्रेमचंद को विरोध के भी स्वर लाने हों तो कैसे लायें ? कहानी 'नमक का दरोगा' इस आयाम का विलक्षण उदाहरण है। टेक्स्ट में कोई लाग-लपेट नहीं है और लगता है जैसे यह महज अंग्रेजी राज के एक वफादार नौकर की अडिग गाथा है। बीच में उस पर ईमानदारी के नाते विपदा भी आती है पर अन्ततः उसकी ईमानदारी ही उसे कहीं बड़ा पुरस्कार दिलाती है। एक नैतिक जीवन-मूल्य के रूप में ईमानदारी के इस सुखान्त से किसी को क्या आपत्ति हो सकती है, बेशक चाहे अमृत राय द्वारा कहानी को प्रेरणास्पद प्रसंग के रूप में पेश करना यकबयक गले न भी उतरे। प्रथम विश्वयुद्ध से उबरा अंग्रेज बादशाह भी ऐसी कहानी से खुश ही हो सकता था। नमक अधिनियम 1918 में बना था, जिसके विरोध में गांधी के नेतृत्व में कहीं 1931 में जाकर सविनय अवज्ञा का राष्ट्रीय आन्दोलन— दांडी मार्च— सम्पन्न हो सका। लिहाजा एक ईमानदारी दिखानेवाला हिन्दुस्तानी मूल का आदर्श दरोगा यदि उस अधिनियम को लागू करा रहा है तो यह राज के लिए एक अच्छी पब्लिसिटी हुयी। पर प्रेमचंद ढर्रे पर चलते जा रहे मशीनी नौकर नहीं हैं, वे साहित्यकर्म भी बेहद शिद्दत से कर रहे हैं ।

'खूनी' में यदि प्रेमचंद के निष्पादन की विचक्षणता को परख सकें तो 'नमक का दरोगा' में वे तीन बातें रेखांकित कर रहे हैं — (1) नमक का कानून बनाकर अंग्रेजी राज ने इस देश के लोगों को उनके स्वाभाविक अधिकार से वंचित किया, (2) अंग्रेजी राज एक बेहद भ्रष्ट तंत्र है, (3) उस राज की चाकरी करने वाला व्यक्ति, कितना ही सचरित्र क्यों न हो, समझौतापरस्ती पर बाध्य होता ही है। यानी— प्रेमचंद बकलम खुद !

26 दिसम्बर, 1934 को इन्द्रनाथ मदान को अंग्रेजी में भेजे लिखित जवाब में प्रेमचंद कहते हैं— 'मैं कभी जेल नहीं गया। मैं कोई रण में उतरने वाला व्यक्ति नहीं हूँ । पर मेरे लेखन ने कई बार सत्ता को खिन्न किया है, मेरी एक या दो किताबों पर बंदिश भी लगी है। आगे इसी जवाब में क्रांति से सामाजिक परिवर्तन लाने के सवाल पर वह कहते हैं — 'मैं क्रम विकास में विश्वास करता हूँ, हमारा मतलब लोकमत को विकसित करना है.....हालांकि यदि मेरे पास ऐसा कुछ पूर्वज्ञान होता और मैं जानता कि उथल-पुथल से स्वर्ग की राह खुलेगी, तो मैं विनाश से भी परहेज नहीं करता। दरअसल प्रेमचंद ने जाहिरा कुछ ऐसा कहा नहीं जो एक या दो रचनाओं पर बंदिश से आगे की नौबत लाता। पर इसकी कसर उनकी विचक्षणता ने पूरी की।

इस आलोक में यदि 'नमक का दरोगा' को पढ़ें तो सब कुछ बदल जाता है। ऐन शुरूआत से प्रेमचंद नमक-कानून को ललकार रहे हैं— 'जब नमक का नया विभाग बना और ईश्वर प्रदत्त वस्तु के व्यवहार करने का निषेध हो गया तो लोग चोरी-छिपे इसका व्यवहार करने लगे। अनेक प्रकार के छल प्रपंचों का सूत्रपात हुआ, कोई घूस से काम निकालता था, कोई चालाकी से।' प्रथम विश्वयुद्ध की आर्थिक भरपाई के लिए ब्रिटिश-राज भारत में अपने लूट के कारोबार को जो विस्तार और तद्नुसार सार्वजनिक/सरकारी भ्रष्टाचार को जो बढ़ावा दे रहा था, नमक-कानून भी उसी का हिस्सा हुआ। प्रेमचंद ने दरोगा वंशीधर की ईमानदारी को राज के प्रति वफादारी नहीं, इंसान का धर्म कहा— जब नमक-तस्कर अलोपीदीन छूटने के लिए रिश्वत की रकम बढ़ाने लगा— 'धर्म (वंशीधर) की इस बुद्धिहीन दृढ़ता और देव-दुर्लभ त्याग पर धन बहुत झुंझलाया। अब दोनों शक्तियों में संग्राम होने लगा। धन ने उछल-उछल कर आक्रमण करने शुरू किये। एक से पांच, पांच से दस, दस से पन्द्रह और पन्द्रह से बीस हजार तक नौबत पहुंची, किन्तु धर्म अलौकिक वीरता के साथ इस बहुसंख्यक सेना के सम्मुख अकेला पर्वत की भांति अटल, अविचलित खड़ा था।' और, अंग्रेजी-राज का न्याय किस कदर भ्रष्ट है— 'किन्तु अदालत में पहुंचने की देर थी। पंडित अलोपीदीन इस अगाध वन के सिंह थे। अधिकारी वर्ग उनके भक्त, अमले उनके सेवक, वकील मुख्तार उनके आज्ञा

पालक और अरदली, चपरासी तथा चौकीदार तो उनके बिना मोल के गुलाम थे। उन्हें देखते ही लोग चारों तरफ से दौड़े। सभी विस्मित हो रहे थे। इसलिए नहीं कि अलोपीदीन ने क्यों यह कर्म किया, बल्कि इसलिए कि वह कानून के पंजे में कैसे आये। ऐसा मनुष्य जिसके पास असाध्य साधन करने वाला धन और अनन्य वाचालता हो, वह कानून केपंजे में आये! प्रत्येक मनुष्य उनसे सहानुभूति प्रकट करता था।' अलोपीदीन अपने स्वार्थ में, ताकि उसकी जायदाद के लिए ईमानदार मैनेजर मिल जाय, वंशीधर को रखने गया। यह अवसर था प्रेमचंद के पास उसके मुंह से राज को तिरस्कृत कराने का— 'मैंने हजारों रईस और अमीर देखे, हजारों उच्च पदाधिकारियों से काम पड़ा किन्तु मुझे परास्त किया तो आपने। मैंने सबको अपना और अपने धन का गुलाम बनाकर छोड़ दिया।'

'जुलूस' (1930) के अंत में अंग्रेजदां दरोगा बीरबल सिंह का हृदय परिवर्तन हो सकता है और वे सत्याग्रहियों को कुचलते हुए उनके पक्ष को समझ भी सकते हैं— 'मैं बुद्धिमान न सही, पर इतना जानता हूं कि ये लोग देश और जाति का उद्धार करने के लिए ही कोशिश कर रहे हैं। यह भी जानता हूं कि सरकार इस ख्याल को कुचल डालना चाहती है। ऐसा गधा नहीं हूं कि गुलामी की जिन्दगी पर गर्व करूं, लेकिन परिस्थिति से मजबूर हूं।' 1919-20 में नमक के दरोगा को यह सुविधा नहीं थी— लिहाजा सरकारी मशीनरी, जिसके पास राज चलाने का एक सहज हथकंडा भ्रष्टाचार है, को जनता की नजरों में तिरस्कृत करने के लिए उसके पास सबसे कारगर हथियार उसकी ईमानदारी है। और क्योंकि भारत में आज भी यह समीकरण ज्यों का त्यों है, यह भी कहा जा सकता है कि अमृत राय की टिप्पणी में कुछ गलत नहीं कहा गया। तो उन्नयन को निराश होने की जरूरत नहीं है।

प्रेम के प्रेत :

प्रेम को लेकर शुरुआती प्रेमचंद में सुपर-इगो से निर्वाह की जबरदस्त ललक भी रही। यूं प्रेमचंद की, उनके आखिरी दौर तक भी, कई कहानियां सुपर-इगो वाले लक्षणों से पूरी तरह मुक्त नहीं हैं— अपने शुरुआती दौर में तो वे आन-बान-शान, मर्दानगी, सतीत्व, वीरोचित, स्त्रैण, वफादारी, बलिदान जैसे परम्परागत समाज-स्वीकृत मानदण्डों से ग्रस्त रहे ही। अपने जीवन के संभवत: अंतिम एवं बेहद महत्वपूर्ण वैचारिक लेख 'महाजनी सभ्यता' (हंस सितम्बर 1936) तक में भी, जब वे एक कम्युनिस्ट समाज के पक्ष में बयान कलमबद्ध कर रहे हैं, उन्होंने राजाओं की राज्य-विस्तार की महत्वाकांक्षा को 'वीरोचित'जैसा विशेषण दिया है। लेकिन एक सहज कर्तव्यनिष्ठा, अनुराग और बन्धुत्व की समानान्तर प्रवृत्ति उनकी कथाओं को प्रेरित करती रही, जो ही उत्तरोत्तर प्रधान भी होती गयी। प्रेमचंद ने जैसे निचोड़ रूप में कहा— 'साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है।.....यही उसका मुख्य उद्देश्य है।' (साहित्य का उद्देश्य, 1936) प्रेमचंद की कथाओं में कशमकश का मंच यह भी रहा कि समाज में न सभी स्वाभाविक हो पाते हैं, न स्वाधीन।

अपने साक्षात्कारों व लेखों में प्रेम को त्याग, तपस्या, बलिदान का दर्जा देने वाले प्रेमचंद की कथा-यात्रा में, दरअसल प्रेम को सहजता और समानता और स्वतंत्रता के व्यक्तिगत बयानों और सामाजिक हलचलों के तद्नुरूप उपकरणों के रूप में पेश करते आयाम नजर आते हैं। घासवाली (1929), प्रेम का उदय (1931), स्मृति का पुजारी (1932) और बालक (1933) जैसी कहानियों में वे प्रेम की सहजता और प्रेम में समानता के साथ गहरा तदातम्य बिठा सके— लेकिन प्रेम में स्वाधीनता स्थापित कर पाना तो आज के गतिशील समाज में भी संभव नहीं हो पाया है! आत्म-संगीत (1929), विद्रोही (1928), तिरसूल (1930),स्वामिनी (1931), नया विवाह (1932) प्रेमचंद की ऐसी ही अर्ध-स्वाधीन सी कथाएं हैं, जो उस समय के हिन्दी समाज के लिए अविश्वसनीय ही रही होंगी।

ऐसे में उन्हें सहारों की जरूरत हो, तो यह स्वाभाविक रहा होगा प्रेमंचद के लिए कि वे लौकिक दुनिया से गृहस्थ-प्रेम और अलौकिक दुनिया से निजी-प्रेत अपने समर्थन के लिए चुनते। एक तो वे निजी जीवन में खुद खांटी के पारिवारिक जीव ठहरे, और दूसरे उन्होंने भूत-प्रेतों, तिलिस्मों, दरवेशों, हातिमताइयों, ऐयारों, जादुई रहस्यों के किस्सों के बीच बचपन से वय:सन्धि और जवानी में पदार्पण का सफर तय किया था। कथानकों में प्रेम को पारिवारिक तत्व बनाने का उन्हें फायदा यह रहा कि उसे 'पहली नजर में प्यार' जैसी रूमानी धारणा या 'भगवान के घर बनी जोड़ी' जैसी दैवी धारणा से अलग किया जा सका। जैसे परिवार का भौतिक विकास होना है, प्रेम का भी। यदि विकास संभव नहीं तो प्रेम भी नहीं रह सकता। और प्रेम पर प्रेत की छाया? चांदनी में नहाई एकांत झील के शांत-उन्माद पर किनारे खड़े वृक्षों के प्रभाव जैसी— उसे द्विगुणित और स्थायी करने वाली! भौतिक प्रेम के निरूपण में खुद के संकोच को तोड़ने के लिए परिवार का, और उन प्रसंगों में मानवीय जिम्मेदारी का एहसास भरने के लिए प्रेत का माध्यम प्रेमचंद ने लिया।

आइए शुरुआती प्रेमचंद को कहानी अमृत (जमाना, मार्च 1913) से देखें। शायर अख्तर का ख्याल है कि साहित्य के उन्माद और सौन्दर्य के उन्माद में पुराना वैर है— 'सुन्दर स्त्री मेरे लिए रंगीन, कातिल नागिन थी जिसे देखकर आंखें खुश होती हैं मगर दिल डर से सिमट जाता है।' साथ छोड़ती शायरी को जिंदा रखने के लिए अख्तर अपनी झूठी मौत की खबर तक उड़ा देता है। अन्तत: प्रेतों की दुनिया से निकलकर, अपनी एक अनजान प्रशंसक आयशा से प्रेम भरी मुलाकातें ही उसे जता पायीं कि प्रेम 'वह अमृत की बूंद है जो मरे हुए भावों को जिंदा कर देती है।....यही अक्सीर थी जिसकी अनजाने ही मुझे तलाश थी।' इसी दौर की ऐसी ही कहानियां हैं 'त्रिया चरित्र' और 'धोखा'। पहली कहानी में रईसी का वारिस मगनदास गलतफहमी वश दिल्ली छोड़ दूर नागपुर के एक गांव में मगनसिंह नाम से साईसी करने लगता है, उसकी भावी पत्नी इंदिरा भी मालिन की भतीजी बनकर रम्भा नाम से, अपनी पहचान छिपाकर, वहीं आ गयी। दोनों में प्रेम परवान चढ़ा पर परिस्थितियों में बदलाव से मगनदास को वापस रईसी में लौटना पड़ा और उसका इंदिरा से ब्याह रचा। राज खुला। तब से दोनों साल में एक बार उसी झोंपड़े में मगनसिंह और रम्भा के नाम से लौटते हैं। प्रेम पर प्रेत के असर का हाल देखिए— 'वह झोंपड़ा, वह मुहब्बत का मंदिर, वह प्रेम-भवन, फूल और हरियाली से लहरा रहा था। चम्पा मालिन उन्हें वहां मिली। गांव के जमींदार उनसे मिलने के लिए आए, कई दिन तक फिर मगनसिंह को घोड़े निकालने पड़े। रम्भा कुएं से पानी लाती, खाना पकाती, फिर चक्की पीसती और गाती। गांव की औरतें फिर उससे अपने कुर्ते और बच्चों की लेसदार टोपियां सिलातीं। हां, इतना जरूर कहतीं कि उसका रंग कैसा निखर आया है, हाथ-पांव कैसे मुलायम पड़ गये हैं, किसी बड़े घर की रानी मालूम होती है। मगर स्वभाव वही है, वही बोली है, वही मुरौवत, वही हंसमुख चेहरा।'

प्रेम में स्त्री-पुरुष समानता की झलक भी! मगनदास ने पुराने दिनों की खातिर कहा— 'मैं अपनी रम्भा को अब भी इन्दिरा से ज्यादा प्यार करता हूं।' इन्दिरा का जवाब तुर्की-ब-तुर्की था— 'तुम्हें रम्भा है तो क्या मेरा मगनसिंह नहीं है। मैं अब भी उस पर मरती हूं।'

'धोखा' में भेष बदलने की और बड़ी ऐयारी है। राजकुमारी प्रभा राजा हरिश्चन्द्र से ब्याही जाकर पति के शारीरिक प्रेम में तो डूबती है पर अकेले होते ही कुंवारेपने में आंखों में बसी रसीले-योगी गायक की मोहिनी छवि में खो जाने से खुद को नहीं रोक पाती। पति ने एक दिन चित्रशाला दिखाई तो वहां उसी योगी का एक छोटा-सा चित्र भी था। प्रभा के चेहरे को पढ़कर राजा ने तुरंत बाहर जाकर योगी का गाना सुनवाने का प्रबंध कर दिया। अब, दाम्पत्य जीवन के भीतर ही, कहानी के सूत्र प्रेतों के हाथ में जा पहुंचे— 'वही हृदयग्राही राग था, वही हृदय-भेदी प्रभाव, वही मनोहरता और वही सब कुछ, जो मन को मोह लेता है। एक क्षण में योगी की मोहिनी मूर्ति दिखाई दी। वही मस्तानापन, वही मतवाले नेत्र, वही नयनाभिराम देवताओं का-सा स्वरूप। मुखमंडल पर मंद-मंद मुस्कान थी। प्रभा ने उसकी तरफ सहमी हुई आंखों से देखा। एकाएक उसका हृदय उछल पड़ा। उसकी आंखों के आगे से एक पर्दा हट गया। प्रेम-विह्वल हो, आंखों में आंसू-भरे वह अपने पति के चरणारविंदों पर गिर पड़ी और गद्‌गद कंठ से बोली— प्यारे! प्रियतम!'

दोनों प्रेमियों की अपनी-अपनी स्वाधीनता के तत्व भी! 'राजा हरिश्चन्द्र ने कहा— जानती हो, मैंने यह स्वांग क्यों रचा था? गाने का मुझे सदा से व्यसन है और सुना है तुम्हें इसका शौक है। तुम्हें अपना हृदय भेंट करने से प्रथम एक बार तुम्हारा दर्शन करना आवश्यक प्रतीत हुआ और उसके लिए सबसे सुगम उपाय यही सूझ पड़ा। प्रभा ने अनुराग से देखकर कहा— 'योगी बनकर तुमने जो कुछ पा लिया, वह राजा रहकर कदापि न पा सकते। अब तुम मेरे पति हो और प्रियतम भी हो; पर तुमने मुझे बड़ा धोखा दिया और मेरी आत्मा को कलंकित किया। इसका उत्तरदाता कौन होगा?' जाहिर है प्रेत होंगे और कौन!

प्रेमचंद के अपने प्रेत भी तो हैं। उनका एक और आयाम देखिए— 'सती' शीर्षक से, प्रेम को गौरान्वित करती, दो कहानियां हैं प्रेमचंद की। पहली कहानी (माधुरी, मार्च 1924) में रानी चिंता अपने सिपहसालार प्रेमी के रणभूमि से जान बचाकर वापस आने पर भी चिता से नहीं उतरती— तुम मेरे रत्न सिंह नहीं।.....'मैं जिस पुरुष के चरणों की दासी बनी थी, वह देवलोक में विराजमान है।....वह वीर राजपूत था, रणक्षेत्र से भागनेवाला कायर नहीं!' दूसरी कहानी (चन्दन, मई 1932) में कमजोर वर्ग की 'मुलिया को देखते हुए उसका पति कल्लू कुछ भी नहीं है।....उसे अपने चचेरे भाई राजा से बहुत खटका रहता है।' यद्यपि पति-पत्नी एक दूसरे के प्रेम में न्योछावर हैं, पर मुलिया जब अल्हड़पने में राजा से चुंदरी स्वीकार कर लेती है तो भ्रम और अवसाद का शिकार कल्लू कलुषित भोग विलास में पड़ जानलेवा बीमारी से ग्रस्त हो जाता है। यद्यपि मुलिया 'उसे प्रसन्न करने के लिए बार-बार प्रयत्न करती; पर वह जितना ही उसको खींचने की चेष्ट करती थी, उतना ही वह उससे विचलता था, जैसे कोई कंटिए में फंसी मछली हो।' मुलिया की अनथक सेवा से, जीवन का अंत आते-आते, कल्लू पर स्पष्ट हो गया कि मुलिया अब भी उसी की है। उसकी मृत्यु के छह महीने के भीतर, नौकरी पर परदेश गये राजा की स्त्री मर गयी। राजा घर लौटा तो उसने मुलिया को घेरा— 'तुम कब तक भैया के नाम को रोती रहोगी?' मुलिया घृणा से बिफर उठी— 'मैं जानती हूं कि मैं मर जाती, तो मेरा सिरताज जन्म भर मेरे नाम को रोया करता। ऐसे ही पुरुषों की स्त्रियां उन पर प्राण देती हैं। तुम जैसे सोहदों के भाग में पत्तल चाटना लिखा है, चाटो; मगर खबरदार, आज से मेरे घर में पांव न रखना, नहीं तो जान से हाथ धोओगे! बस, निकल जाओ। उसके मुख पर ऐसा तेज, स्वर में इतनी कटुता थी कि राजा को जबान खोलने का भी साहस न हुआ, चुपके से निकल भागा।' प्रेमचंद यह तो नहीं धिक्कार रहे कि ऐसे सम्पूर्ण पुरुष कहां जिनसे स्त्रियां प्रेम कर सकें!

प्रेमचंद के आर्यसमाजी-गृहस्थ भूतों ने उनसे ये कहानियां लिखवाई होंगी? अन्यथा एक और दलित मुलिया 'घासवाली' (माधुरी, दिसम्बर 1929) को वे पहले ही रच चुके थे, जो पति से प्रेम करते हुए एक विजातीय सहृदय के प्रति भी कोमल भावनाएं रखने में समर्थ है। इन्हीं प्रेमचंद ने 'विद्रोही' (1928), 'स्वामिनी' (1931) और 'नया विवाह' (1932) जैसे कैनवस पर अपने यौन के मालिक स्त्री-चरित्र भी रचे। बचपने से जिसे चाहा, जब उससे विवाह में दहेज का सवाल आड़े आ गया तो वह विद्रोही तरह-तरह से सभी पर, स्थितियों पर बस खीझ ही उतारता रह गया। पर तारा की कहीं और शादी होने के सालों बाद वह तारा और उसके पति से सहज मैत्री-भाव से मिल सका; यहां तक कि तारा के पति ने जोश से उसे बताया— 'आपके प्रेम को वह अपनी जिन्दगी की सबसे प्यारी चीज समझती है। आप शायद समझते हों कि उन दिनों की याद करके उसे दुख होता होगा। बिल्कुल नहीं। वही उसके जीवन की सबसे मधुर स्मृतियां हैं। वह कहती है, मैंने अपने कृष्णा को तुममें पाया है।' पति की मृत्यु के बाद प्यारी ने ससुर से स्वामिनी का दर्जा पाकर खूब हीले से घर चलाया। कालान्तर में ससुर नहीं रहा, देवर अपने परिवार सहित परदेश चला गया, वह एकदम अकेली रह गयी। घर के पुराने हलवाहे जोखू की सहानुभूति और परिश्रम के सहारे प्यारी ने धीरे-धीरे जीवन और खेती को फिर व्यवस्थित कर लिया। उस परस्पर निर्भरता और सहयोग ने स्वामिनी और नौकर के बीच अटूट प्रेम की सृष्टि की और दोनों के बीच विवाह सम्बन्ध का रास्ता खोल दिया। जीवन में प्रेम की स्वाभाविकता और किसे कहेंगे! लाला जी ने अधेड़ावस्था में नया विवाह किया और जीवन में उमंग के लिए युवा सेठानी ने नौजवान घरेलू सहायक का सहारा लिया।

कितनी ही कहानियों में प्रेमचंद ने प्रतिशोधी अलौकिक शक्तियों की रचना समर्थों के निरंकुश आचरण के विरुद्ध इस्तेमाल की है। सोच वही जो सदियों से जन-साहित्य का हिस्सा रही— जहां लौकिक ताना-बाना एकदम आततई, अन्यायपूर्ण और निराशाजनक है, वहां अलौकिक दखल ही सही! यहां तक कि काल और कठिनाइयों को लांघने में मददगार उनके प्रेत-प्रसंग, प्रेम जैसी कोमलतम भावनाओं के वाहक भी बने हैं। इस मिश्रण का निचोड़ उनकी अंतिम दौर की कहानी 'स्मृति का पुजारी' (1932) है; आदमी के प्रेम को खुराक मिलती है भौतिक जगत से और प्रेतों को आदमी का पीछा करती उसकी स्मृतियों से। पर इस कहानी में उतरने से पहले, कुछ क्षण ठहर कर, प्रेमचंद के रचे प्रेत-प्रोफाइल पर एक नजर।

प्रेमचंद के सारे प्रेत—आततायी स्मृतियों के बिंब—सवर्ण हैं, और विशेषकर ब्राह्मण। दलित, जब समर्थों के इतिहास में शामिल ही नहीं, तो उनकी स्मृतियों या पश्चातापों का हिस्सा कैसे होते? दलित न तो आततायी स्मृतियों के वारिस हो सकते हैं और

न जनक; लिहाजा न वे प्रेत बनकर प्रतिशोध ले सकते हैं और न उनके अपने प्रेत होते हैं जो उनसे प्रतिशोध लें। यह समाज में दलित के पूरी तरह हाशिये पर होने की स्थिति है। हां उनके वजूद की रगों में घुसे विप्र-विधान का प्रेत जरूर उन्हें शिकार बनाता रह सकता है— सवा सेर गेहूं के ऋणी मजदूर शंकर द्वारा ब्याज में पुश्त-दर-पुश्त की गुलामी स्वीकारने का तर्क यही तो था कि 'एक तो ऋण— वह भी ब्राह्मण का— बही में नाम रह गया तो सीधे नरक में जाऊंगा।'

लब्बो-लुवाब यह कि 'गरीब की हाय' का प्रेत समर्थ अन्यायी को भी तभी लगता है, जब वह गरीब सवर्ण हो। 1911 की इस कहानी में विधवा ब्राह्मणी मूंगा के रुपये हड़पने वाले मुंशी दम्पति को, मूंगा द्वारा उनके दरवाजे पर भूखे-प्यासे जान देने पर, ब्रह्म-हत्या का दंड भुगतना पड़ा— गांववासियों द्वारा उनके अघोषित बहिष्कार के रूप में। अब उन्हें रात-दिन मूंगा का प्रेत नजर आता— 'तेरा लहू पीऊंगी।' लाख भागे, पर दोनों ने तड़पते जान छोड़ी। 1924 की कहानी 'भूत' में चौबे ने मरती पत्नी को दिया वचन दरकिनार कर गोद ली लड़की बिन्नी से ही ब्याह रचा डाला। जिस रात बिन्नी बधू बनकर आयी, पत्नी मंगला सदेह, साकार, सजीव रूप में जहां-तहां से चौबे पर हंसती— 'बिन्नी तुम्हारी पुत्री है।' इस कहानी में समाज चौबे के साथ है, तो भी वे इस तिरस्कार से विक्षिप्त हो गये। ब्राह्मण-प्रेत के 'दंड' (1925) से मुक्ति है ही नहीं— कचहरियों के दलाल जगत पांडे द्वारा दी घूस की रकम को उसका काम किए बिना डकारना जंट साहब को बेहद महंगा पड़ा। पांडे द्वारा विरोध में उनके दरवाजे पर दम तोडने पर, पांडे का प्रेत जंट साहब के बिरादरी के बहिष्कार से बल पाकर उन्हें बदहवास रखता है और उनकी पत्नी के लिए तो जानलेवा ही हो जाता है।

यह भी उनके प्रेत-प्रोफाइल का अनिवार्य हिस्सा है कि प्रेमचंद ने अलौकिक में अंधविश्वास को नहीं उतरने दिया। 'नाग पूजा' (1923) उनकी एकमात्र ऐसी कहानी है जिसमें कोई प्रेत खल-भूमिका में है। पर इसमें भी उसकी चुनौती जिसने स्वीकार कर उसका अंत किया, वह एक वैज्ञानिक था और उसने भौतिक उपकरणों का ही प्रयोग किया। कहानी 'मूठ' (जमाना, जनवरी 1922) में 'मूठ चली और चोर के मुंह से रक्त जारी हुआ, जब तक वह माल न लौटा दे रक्त बंद नहीं होता।' कंजूस डाक्टर साहब के घर में से पांच सौ रुपये उड़ गये थे। ओझा ताड़ गया कि किसी घर वाले का ही हाथ है— 'फिर एक बार अच्छी तरह सोच लीजिए। मूठ तो मैं चला दूंगा, लेकिन उसको उतारने का जिम्मा मैं नहीं ले सकता।' यानी प्रेत तो अपना खुद का भय है, उसे दूसरा कैसे उतारेगा? सारी कहानी में मनोविज्ञान ही काम कर रहा है। ओझा तो पैसे लेकर सो गया, डाक्टर साहब देर रात घर वापस आये तो घर की बुढ़िया महरी जगिया, जिसने उन्हें भी गोद खिलाया था, घबड़ा गयी— भइया मूठ में जान जोखम है।

डाक्टर— चोरी की यही सजा है।

जगिया— किस ओझे ने चलाई है।

डाक्टर— बुद्धू चौधरी ने।

जगिया— अरे राम उसकी मूठ का तो उतार नहीं।

रात की रात जगिया की हालत बिगड़ती गयी। डाक्टर ने जाकर देखा तो हाथ-पैर अकड़ गये थे। दवा का जोर न चला तो रात में ही डाक्टर उसी ओझा के पास वापस पहुंचा। 'पर अभी तो बुद्धू ने मूठ चलाई ही नहीं। उसका असर क्योंकर हुआ।' मूठ नहीं चली, यह डाक्टर को क्या पता। लिहाजा ओझा को मुंह मांगे दाम देकर मूठ उतरवाने घर लाया, और आध घंटे में उसके बुदबुदाने, बेसुरा गाने, अंगडाइयां लेने, जगिया के सिर पर हाथ फेरने से मूठ, जो चलाई ही नहीं थी, उतर गयी। 'उधर कौवे की बोली सुनाई दी, जगिया एक अंगड़ाई लेकर उठ बैठी।' तीर्थयात्रा के लिए की गयी चोरी के पश्चाताप का उसका चक्र जो पूरा हुआ! पूरी की पूरी कहानी प्रेतों ने चलायी पर इसमें ओझा के प्रेत न थे; पात्रों के अपने-अपने प्रेत रहे।

व्यक्ति प्रेमचंद के भी अपने प्रेत होंगे। उनकी निजी प्रेम-कामनाएं भी रही होंगी। कहानीकार के रूप में अन्ततः उन्होंने इनसे क्या-क्या नहीं हासिल कराया! 'स्मृति का पुजारी' पैंतालीस वर्षीय होरीलाल सजीव मनुष्य नहीं, पत्नी के देहांत के बाद दुनिया से विरक्त होकर महज स्मृतियों का पुतला है। पर एक ऐसा कोमल दौर भी आया जो इस पुजारी को प्रेत-दुनिया से वापस भौतिक दुनिया में लाया और उसके जीवन को व्यवस्थित कर गया। यह और बात है कि होरीलाल इस दौर को निभा नहीं पाये और वापस स्मृतियों की अस्त-व्यस्तता में ही लौट गये।

'जब उनकी स्त्री जीवित थी, तब कुछ और ही बात थी.... दोनों एक दूसरे के आशिक थे, और उनका प्रेम पौधों के कलम की भांति दिनों के साथ और भी घनिष्ठ होता जाता था.... पचीस साल के अभिन्न सहचर ने उनकी आत्माओं में इतनी समानता पैदा कर दी थी कि जो बात एक के दिल में आती थी, वही दूसरे के दिल में बोल उठती थी।' महाशय जी का अभी सब कुछ अच्छा था, चाहते तो दूसरा ब्याह कर लेते; पर इस स्मृति के पुजारी ने प्रेम के नाम को दाग न लगाया— 'अब हफ्तों बाल नहीं बनते; कपड़े नहीं बदले जाते। घसियारों-सी सूरत बनी हुई है, कुछ परवाह नहीं। कहां तो मुंह-अंधेरे उठते थे और चार मील का चक्कर लगा आते थे.... कहां अब आठ बजे तक चारपाई पर पड़े करवटें बदल रहे हैं।....कहां तो अच्छे-अच्छे सूटों का खब्त था....कहां पुराने-धुराने बदरंग सिकुड़े-सिकुड़ाये, ढ़ीले-ढ़ाले कपड़े लटकाए चले जा रहे हैं....पैंतालीस की उम्र में जो आदमी पैंतीस का लगता था, वह पचास की उम्र में सत्तर का लगता है, कमर भी झुक गई, बाल भी सफेद हो गये, दांत भी गायब हो गये। जिसने उन्हें तब देखा हो, आज पहचान भी न सके।' यहां तक कि जिन विषयों पर उनका पत्नी से मतभेद हुआ करता था, अब उन पर उनके वही विचार हो गये जो पत्नी के थे। यानी पूरी तरह प्रेत के शिकंजे में! दोस्तों द्वारा ठेल-ठाल कर प्रातः सैर के लिए भेजे जाने के दौरान होरीलाल की मुलाकात स्थानीय लड़कियों के हाई स्कूल की नयी हेड-मिस्ट्रेस मिस इंदिरा से हुई, जिन्होंने उनमें रुचि दिखानी शुरु कर दी। इस साथ के असर ने रंग दिखाया— 'मैंने सोचा, जब संसार में रहना है, तो जिन्दों की तरह क्यों न रहूं। मुर्दों की तरह जीने से क्या फायदा।' दोस्तों ने देखा कि उनके घर की खिड़कियां जो बरसों से बंद पड़ी थीं, खुल गयी हैं। उनकी चपलता, प्रसन्नता और सजीवता वापस आ गयी है। इंदिरा ने उन्हें, जैसे वे थे— एक विरक्त विधुर— वैसे ही स्वीकारा था— 'अगर आप समझते हों कि मैं आपकी कुछ सेवा कर सकती हूं, तो मैं हर तरह हाजिर हूं, मुझे आपसे जो भक्ति और प्रेम है, वह इसी रूप में चरितार्थ हो सकता है।' पर होरीलाल वह स्वर्ण अवसर नहीं पकड़ सके, उन्होंने प्रेतों की दुनिया में वापसी ही अपने लिए चुनी— 'आठ बज रहे थे। खिड़कियों के पट बंद थे। सामने बरामदे में कूड़े-करकट का ढेर था। ठीक वही दशा थी, जो पहले नजर आती थी।'

प्रेम की भौतिक दुनिया में रहने के लिए प्रेमचंद ने गंगू ब्राह्मण को रचा। 'हंस' के अप्रैल 1933 अंक में प्रकाशित कहानी

'बालक' में विधवा-आश्रम से निकाली एक गोमती देवी है, जो तीन बार ब्याही जाकर पतियों के पास से भाग आयी और अब एक अलग कोठरी लेकर रहती हुई सारे मुहल्ले के शोहदों का मनोरंजन केन्द्र बनी हुई है। पुराने विचारों का पोंगा ब्राह्मण गंगू जिसे नयी सभ्यता की हवा तक न लगी और जो ऊंच-नीच, छूत-छात मानने वाला उग्र स्वभाव का जीव है, गोमती देवी के प्रेम में पड़कर छूटती नौकरी के समय मालिक के समझाने पर यह तर्क पेश करने में समर्थ है— 'जहां प्रेम नहीं है हुजूर, वहां कोई स्त्री नहीं रह सकती। स्त्री केवल रोटी कपड़ा ही नहीं चाहती, कुछ प्रेम भी तो चाहती है। वे लोग समझते होंगे कि हमने एक विधवा से विवाह करके उसके ऊपर कोई बहुत बड़ा एहसान किया है। चाहते होंगे कि तन-मन से वह उनकी हो जाय, लेकिन दूसरे को अपना बनाने के लिए पहले आप उसका बन जाना पड़ता है हुजूर।' 'और तुम ऐसी स्त्री से विवाह करोगे ?.... समझ लो, जीवन कड़ुवा हो जायेगा।'.... गंगू ने शहीदों के से आवेश से कहा— 'मैं तो समझता हूं, मेरी जिन्दगी बन जायेगी बाबू जी, आगे भगवान की मर्जी!'

गंगू ने गोमती से विवाह कर लिया और अब सदैव प्रसन्न-मुख एवं निश्चिन्त दिखता। उसके स्वभाव में एक आत्मसम्मान पैदा हो गया था। एक दिन सुना गया कि गोमती गंगू के घर से चली गयी। लोगों ने गंगू को उकसाने और उसका उपहास उड़ाने की चेष्टा की पर गंगू अब भी गोमती का मंत्र पढ़ता रहा— 'वह प्रेम तो मरते दम तक याद रहेगा.... जब तक उसे ढूंढ न लाऊंगा, मुझे चैन न आयेगा।' गंगू को गोमती लखनऊ के जनाने अस्पताल में मिली। वह अपना पता एक सहेली के पास छोड़ गयी थी, यह कहकर कि अगर गंगू बहुत घबराये तो बता देना। साथ में नवजात बच्चा भी था, जाहिरा वह गंगू का बच्चा नहीं था। इसी भय से गोमती भागी थी। पर गंगू जिस भौतिक जगत में रहकर प्रेम में डूबा हुआ है, वहां प्रेतों के लिए कोई स्थान नहीं— 'गोमती, अगर तुम्हारा मन मुझसे नहीं मिलता, तो तुम मुझे छोड़ दो। मैं अभी चला जाऊंगा और फिर कभी तुम्हारे पास न आऊंगा। तुमको जब कुछ काम पड़े तो मुझे लिखना, मैं भरसक तुम्हारी मदद करूंगा। मुझे तुमसे कुछ मलाल नहीं है। मेरी आंखों में तुम अब भी उतनी ही भली हो। अब भी मैं तुम्हें उतना ही चाहता हूं। नहीं, अब मैं तुम्हें और ज्यादा चाहता हूं; लेकिन अगर तुम्हारा मन मुझसे फिर नहीं गया है, तो मेरे साथ चलो। गंगू जीते-जी तुमसे बेवफाई नहीं करेगा। मैंने तुमसे इसलिए विवाह नहीं किया कि तुम देवी हो; बल्कि इसलिए कि मैं तुम्हें चाहता था और सोचता था कि तुम भी मुझे चाहती हो। यह बच्चा मेरा बच्चा है। मेरा अपना बच्चा है। मैंने एक बोया हुआ खेत लिया, तो क्या उसकी फसल को इसलिए छोड़ दूंगा, कि उसे किसी दूसरे ने बोया था?'

मनुष्य स्वयं प्रेम का भी स्रोत है जैसे प्रेत का—'आत्म-संगीत'(माधुरी, अगस्त 1927) में रानी मनोरमा को प्रेम के संगीत ने महल से निकालकर ऐसा खींचना शुरु किया कि उस तक पहुंचने की विकलता में, नदी-तट पर पहुंच वह अनजाने मांझी के पैरों पर गिर पड़ी— 'नौका खोल।.... अब इस चाह में दाह है।' रानी की यह विकलता बराबर बढ़ती ही गयी जब तक कि उसे आभास नहीं हुआ कि 'वह स्वयं इस संगीत का स्रोत थी।'

सारत: प्रेमचंद ने प्रेम को लेकर इतना सब कहा— बहुत कुछ प्रेतों के माध्यम से भी। यह कहानी कहने की तकनीक का कमाल है कि उनकी प्रेम-कहानियां, प्रेम को लेकर कही गई कहानियां लगती हैं।

प्रेमचंद का कद : वर्ग चेतना

मार्क्सवादी सामाजिकता को आत्मसात करना हो या सहज ही आधार और अधिरचना का द्वंद्वात्मक सम्बन्ध समझना हो तो प्रेमचंद की वर्ग-चेतना पर आधारित एक ही कहानी 'नशा' काफी है। फरवरी 1934 में 'चांद' में प्रकाशित इस कहानी में उनके पूरी तरह विकसित कम्युनिस्ट कद को अनायास देखा जा सकता है।

मार्क्स का मशहूर कथन है—मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उल्टे उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है। 'नशा' में एक गरीब क्लर्क का बेटा अमीर जमींदार घराने के सहपाठी ईश्वरी के साथ उसके गांव छुट्टियां बिताने जाता है। इससे पहले वह ईश्वरी की कुलीन, दम्भी, सामन्ती जीवन-शैली का घोर आलोचक रहा है। पर रेल के ऊंचे दर्जे में यात्रा से लेकर ऐशो-आराम से बीते छुट्टी के दिनों ने उस पर भी उन्हीं अभिजात मूल्यों का नशा चढ़ा दिया। ईश्वरी ने गांव में सभी से उसका परिचय एक बड़े रियासतजादे के रूप में दिया था और इस दौरान वह पूरी तरह से कुंवर साहब को जीने भी लगा— मेज पर लैम्प रखा था, दियासलाई भी वहीं थी, कुंवर साहब अखबार पढने को भिन्ना रहे हैं, पर लैम्प अपने हाथ से कैसे जलाएं जब ईश्वरी ऐसा नहीं करता, तभी ओहदेदार मुंशी रियासत अली आ निकले और कुंवर साहब फट पड़े—'तुम लोगों को इतनी फिक्र भी नहीं कि लैम्प जलवा दो। मालूम नहीं ऐसे कामचोर आदमियों का यहां कैसे गुजर होता है। मेरे यहां घण्टे भर निर्वाह न हो।'

वापसी यात्रा ऊंचे दर्जे का टिकट न मिलने से भीड़-भड़क्के में तीसरे दर्जे में करनी पड़ी। धक्का-धक्की से बौखलाए कुंवर साहब ने एक ग्रामीण सहयात्री पर हाथ चला दिया तो कइयों ने उन्हें जम कर सुनायी। अब उनका नशा उतरना शुरू हुआ और वे अपनी दुनिया में वापस लौटे।

कहते हैं किसी बड़ी लकीर को बिना छुए छोटी करना है तो उसके ऐन बराबर में एक उससे भी बड़ी लकीर खींच दो। प्रेमचंद की तमाम वर्ग-चेतना की कहानियां हिन्दी की ही नहीं विश्व-साहित्य फलक की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में रखी जायेंगी। यही वह बड़ी लकीर है, खुद जिससे प्रेमचंद की अन्य लकीरें छोटी नजर आने लगती हैं। इसी बड़ी लकीर की वजह से प्रेमचंद को दलित विरोधी कहने वालों को सुविधा होती है। यहां तक कि इसी बड़ी लकीर की वजह से वे स्त्री-चेतना और अल्पसंख्यक-चेतना पर भी हमेशा खरे नहीं उतरते दिखाये जा सकते हैं।

होता यह है कि जिन कथाओं में प्रेमचंद के शोषित पात्र— किसान, दलित, स्त्री, अल्पसंख्यक—जातिगत सांचे में गढ़े जाते हैं, उनकी शानदार यथार्थपरकता के बावजूद, वे रचनाएं किसी न किसी रूप में एकध्रुवीय और सपाट रह जाती हैं। और जिन कथाओं में यही पात्र वर्ग-चेतना से सम्पन्न हैं, वे सम्पूर्ण और कमाल की रचनाएं हो जाती हैं। यांत्रिकता के कैदी भी हैं प्रेमचंद और द्वंद्वात्मकता की लहर भी बने हैं। तभी पत्नी के 'कफन' (जामिया, दिसम्बर 1935) के पैसों से गुलछर्रे उड़ाते घीसू और माधव को दलित चेतना नहीं पहचान पाती। जो जानवर का जीवन जी रहा है, वह जानवर ही हो गया—यह वर्ग-दृष्टि नहीं संस्कार-दृष्टि हुयी। 'कफन' में यही हुआ है कि 'पशु से मनुष्य' को यंत्रवत लागू होने दिया गया।

प्रेमचंद की 'पशु से मनुष्य' कहानी 'प्रभा' के फरवरी 1920 के अंक में छपी। अन्तत: एक कम्युनिस्ट कथाकार के

रूप में प्रेमचंद के विकास के सूत्र इस कहानी में मौजूद हैं। साथ ही इस बात के भी कि क्यों वे अपने विकास-क्रम में, लक्षणों के बावजूद, रुढ़िवादी सनातनी, आर्यसमाजी, अंधविश्वासी, कट्टरपंथी, मानवतावादी या महज गांधीवादी के रूप में समाप्त नहीं हुए। अक्तूबर 1917 की रूसी समाजवादी क्रांति के आलोक में तबके ढुलमुल सरकारी अध्यापक प्रेमचंद का इस कहानी में जैसे पकते हुए साहित्यकार प्रेमचंद से संवाद चल रहा है—'समय सफल चोर का सबसे बड़ा मित्र है। एक एक क्षण उसे निर्दोष सिद्ध करता जाता है।' दुर्गा माली ने बार-एट लॉ डाक्टर मेहरा के बगान से, ऊपरी आमदनी के खाते में की गयी आम की चोरी को छिपाने के लिए देर रात वापस लौटने की जुगत की, तो भी पकड़ा गया। पर समाज में तमाम व्यक्तिगत, पारिवारिक, महाजनी एवं कार्पोरेट सम्पत्ति की प्रणालियां ऊपरी (बेशी) आमदनी की प्रणाली ही तो हैं, और इससे लाभ उठाने वाले हर व्यक्ति, परिवार, संस्था, मूल्य वैधता के हकदार बने रहे हैं।

दीन, चोर, कामचोर, झूठे, लालची दुर्गा माली का नयी जगह पर जहां मालिक प्रेमशंकर समेत सभी काम करने वाले बराबर के हकदार हैं, कायाकल्प हो गया। वह कैसे एक मेहनती, कुशल, आत्मविश्वास से लबालब, सच्चे आदमी में बदल गया, यह पूर्व-मालिक मेहरा के लिए ईर्ष्या, आश्चर्य और चुभन का विषय है। प्रेमशंकर और मेहरा के वार्तालाप में समाजवादी व्यवस्था के प्रति आश्वस्ति के तर्क लगातार स्वर पाते हैं—

'जहां कोई मालिक होता है दूसरा उसका नौकर तो उन दोनों में तुरंत द्वेष पैदा हो जाता है। मालिक चाहता है कि इससे जितना काम लेते बने, लेना चाहिए। नौकर चाहता है कि मैं कम से कम काम करूं। उनमें स्नेह या सहानुभूति का नाम तक नहीं होता। दोनों यथार्थ में एक-दूसरे के शत्रु होते हैं। यों प्रेमचंद ने इस प्रसंग में 'सहकारिता' को श्रेय दिया है पर वर्ग-विद्वेष और अपवर्तन की स्पष्ट बानगी और भला क्या होगी!

भारतीय समाज में जातिगत वर्ण-व्यवस्था के द्वंद्व पर आम्बेडकर ने ठेठ मार्क्सवादी समझ से कहा—'यह श्रम का ही नहीं, श्रमिकों का भी विभाजन है।' लिहाजा उनका मुख्य स्वर जाति-प्रथा के विनाश का है, न कि उसको दुहने का। प्रेमचंद का भी मार्क्सवादी रुझान 'पशु से मनुष्य' द्वंद्व को कुछ ऐसे ही रूप में तर्क देता है— 'शासन-प्रबंध, वकालत, चिकित्सा, चित्र-रचना, शिक्षा, दलाली, व्यापार, संगीत और इसी प्रकार की सैकड़ों अन्य कलाएं शिक्षित समुदाय की जीवन-वृत्ति बनी हुई हैं। पर इनमें से से एक भी धनोपार्जन नहीं करतीं। इनका आधार दूसरों की कमाई पर है। मेरी समझ में नहीं आता कि वह उद्योग-धंधे जो जीवन की सामग्रियां पैदा करते हैं, जिन पर जीवन का अवलम्बन है, क्यों उन पेशों से नीचे समझे जायें, जिनका काम केवल मनोरंजन या अधिक-से-अधिक धनोपार्जन में सहायता करना है।'

प्रेमचंद के विकास-क्रम में इस मुकाम पर पहुंचने की तुलना उनकी ठेठ मानवतावादी कहानी 'सज्जनता का दंड' (मार्च 1916, सरस्वती) से की जा सकती है। एक ईमानदार इंजीनियर का भ्रष्ट ठेकेदारों के गिरोह ने अन्ततः चीफ इंजीनियर की मार्फत, छोटे पद पर एक छोटी जगह तबादला करा ही दिया। उनकी पत्नी भी आर्थिक तंगी के चलते असंतुष्ट रहती थीं, पर अंत में क्षोभ-भरे पति को उन्होंने उत्साहित किया— 'रोये तो वह जिसने कौड़ियों पर अपनी आत्मा भ्रष्ट की हो— जिसने रुपयों पर अपना धर्म बेचा हो। यह बुराई का दंड नहीं है। यह भलाई और सज्जनता का दंड है, इसे सानन्द झेलना चाहिए।' यानी सज्जन क्यों सज्जन हैं और बदमाशी की जड़ कहां है, प्रेमचंद की कहानी में ये सवाल अभी नहीं उठ सके हैं।

किसान के आर्थिक क्षरण के चलते मजदूर बन जाने का द्वंद्व प्रेमचंद की कितनी ही कथाओं में आया है; जमीन के एक टुकड़े पर न्योछावर किसान का अपनी सर्वहारा-नियति से द्वंद्व! इसी वर्ग-दृष्टि ने 'पूस की रात' (माधुरी, मई 1930) को एक महान कहानी बनाया—ठंड से हलकान हल्कू ने कर्ज में डूबी अपनी किसानी को जंगली जानवरों द्वारा, खुद की पहरेदारी में ही, तहस-नहस होने दिया और अपने जैसों की सर्वहारा की नियति को रेखांकित किया। उस रात के किसान से मजदूर में बदलते हल्कू को आज भी इसी प्रक्रिया से गुजरते कौन नहीं पहचानेगा भला!

और 'गुल्ली-डंडा' के गया चमार से तो मेरा व्यक्तिगत परिचय है। बचपन में एक गरीब घर का लड़का हमारे साथ हाकी खेलने आया करता था। उसकी मुखमुद्रा ऐसी थी कि लगता वह लगातार हंस रहा हो। हमारे मैदान में हमसे हाकी मांगकर, हमारी ही बाल से खेलने से वह हमारी धौंस का भी स्वाभाविक शिकार बनता। मैं शरीर में उससे बड़ा था और कभी-कभी झल्लाहट में उस पर मेरा हाथ भी चल जाता। खेल में 'गलती' करने के बावजूद उसकी मुस्कराहट मेरी झल्लाहट को बढ़ाने का ही काम करती। एक दिन वह चुपचाप अपने बड़े भाई या चाचा को लेकर आया। वह बलिष्ठ नौजवान बाहर से हमें खेलते देखता रहा और इस नयी उपस्थिति से अनजान मैं और दिनों की तरह उस गरीब खिलाड़ी की डांट-डपट करता रहा। अचानक, जैसे ही एक बार बाल मुझसे नहीं रुकी, उस बलिष्ठ नौजवान ने लपककर मेरे हाथ उमेठ कर पीठ के पीछे जकड़ दिये। बाकी सभी तमाशा देखते रहे— मैं छूटने को छटपटाया, चीखा-चिल्लाया, फिर रुआंसा-अपमानित खड़ा रह गया। वह बीच-बीच में मेरे सिर पर हल्की-सी चपत लगाता और कहता कि यह बाल न रोकने की सजा है। मैं घर जाना चाहता था पर उसने मुझे जाने नहीं दिया— खेलते रहो मैं यहीं से देखता रहूंगा, जितनी बार गलती करोगे सजा दूंगा। मेरे पास सिवाय उसकी बात मानने के कोई चारा नहीं था। पर दोबारा खेल शुरू होने पर एक गलती पर जब उसने मैदान में घुसकर मुझे दो ठुड्डे लगाये तो मैं जार-जार रोने लगा और जैसे ही उसकी पकड़ ढीली हुयी घर की ओर भाग लिया। वह बलिष्ठ नौजवान दोबारा हमारे बीच नहीं आया। हम जल्द ही फिर पहले जैसे ही खेलने लगे। पर खेल क्या, उस अनुभव के बाद जीवन में भी किसी गरीब को हीन समझना मेरे लिए संभव नहीं रहा !

इस तरह मैं भी गया चमार को जानता हूं-थानेदार के लड़के ने गुल्ली-डंडा के खेल में बिना पदे खिसकना चाहा तो गया ने उसे घेर लिया, बराबर की गाली दी, और दांत से काटे जाने पर डंडे का पलट वार भी किया। अवसर के अभाव में वह गांव में ही मजदूरी करने को रह गया। थानेदार का लड़का बीस साल बाद उसी इलाके में बतौर जिला-इंजीनियर दौरे पर आया तो उसने बचपन के उस खेल-सखा को ढूंढ निकाला। सामाजिक अन्तर के चलते गया उसका लिहाज करता रहा और बचपन की याद ताजा करने में गुल्ली-डंडा खेलते हुए अफसर की सारी धांधलियों को भी नजरअदांज कर गया। पर दूसरे दिन जब स्थानीय टीमों में मैच हुआ तो गया का खेल वही पुराने रंग में था। किसी ने धांधली करनी चाही तो उसका पुराना रौद्र-रूप भी दिखा। जाहिर हो गया कि उसने अपने अफसर-मित्र को अपने जोड़ का नहीं समझा था— 'वह बड़ा हो गया है, मैं छोटा हो गया

हूं।'

प्रेमचंद की गिनती की प्रेम कहानियों के बीच से यदि एक यादगार कहानी चुननी हो तो मैं 'घासवाली' (माधुरी, दिसम्बर 1929) चुनूंगा। कहानी की नवविवाहिता रूपवती नायिका मुलिया हाड़-मांस की दलित औरत है, जो शोषणकारी प्रसंगों और कोमल मानवीय भावनाओं के द्वंद्व को क्षमता भर जीने में जुटी रहती है। गांव के रंगीले ठाकुर चैन सिंह को भी ऐसे देहातों के समाज से परिचित लोग जानते ही हैं। इस शादीशुदा नौजवान का सहज मानना है कि 'नीच-जाति की औरत जरा-सी घुड़की-धमकी, या जरा-सी लालच से तुम्हारी मुट्ठी में आ जायेगी।' मुलिया का पति महावीर चाहता तो है कि उसको कलेजे में बिठा कर रखे पर फिर उसके इक्के के घोड़े के लिए घास कौन छील कर लाए। मुलिया उसके प्रेम पर निहाल है, अगर चैन सिंह की कारस्तानी उसे बता दे तो महावीर उस ठाकुर के खून का प्यासा हो जाय। पर 'फिर न जाने क्या हो!' आखिर ठाकुरों की कृपा से ही घास मिलनी है। चैन सिंह जब ज्यादा घेरता है तो मुलिया द्वारा विरोध में उपरोक्त द्वंद्व मुखर होता जाता है— 'अगर मेरा आदमी तुम्हारी औरत से इसी तरह बातें करता, तो तुम्हें कैसा लगता।' 'इसीलिए न कि जानते हो कि मैं कुछ नहीं कर सकती। जाकर किसी खतरानी (क्षत्राणी) के चरणों पर सिर रखो, तो मालूम हो कि चरणों पर सिर रखने का क्या फल मिलता है। फिर यह सिर तुम्हारी गर्दन पर न रहेगा।' 'मुझे किसी बड़े घर का नाम बता दो, जिसमें कोई साईस, कोई कोचवान और कोई कहार, कोई पण्डा, कोई महाराज न घुसा बैठा हो?... और वे औरतें जो करती हैं, ठीक करती हैं। उनके घरवाले भी तो चमारिनों और कहारिनों पर जान देते फिरते हैं। लेना देना बराबर हो जाता है।' 'मेरी एक नहीं दोनों आंखें फूट जायें तब भी वह (महावीर) मुझे इसी तरह रखेगा। मुझे उठावेगा, बैठावेगा, खिलावेगा। तुम चाहते हो, मैं ऐसे आदमी के साथ कपट करूं?'

प्रेमचंद ने यदि चैन सिंह को खालिस सवर्ण नर-पिशाच बना दिया होता तो मुलिया भी एक कृत्रिम दलित देवी बन कर रह जाती। औरत के धिक्कार से वह दूसरा ही आदमी हो गया—सिर्फ मुलिया के प्रति ही नहीं, यहां तक कि अपने खेतों में काम करने वाले मजदूरों से व्यवहार को लेकर भी। चैन सिंह ने जब पाया कि मुलिया की गरीबी उस पर भारी पड़ रही है और वह निर्वाह के लिए कचहरियों के आगे पति के इक्के की मंदी को घास बेचकर पूरा करने में बेजा हरकतों में पड़ रही है, तो उसने महावीर के इक्के को, बेगार में नहीं, रुपये रोज पर अपनी सवारी में रख लिया—इस ताकीद के साथ कि घास लेकर घरवाली को बाजार मत भेजा करो।

जो कोई कहानी नहीं कर सकती, प्रेमचंद ने वैसा कुछ भी इस प्रेम-कहानी में नहीं कराया। ऊंच-नीच, भले-बुरे में बंटा वह समाज वैसे का वैसा ही रहा। स्वार्थ और लम्पटता, प्रेम और विश्वास, मुलिया और महावीर, मुलिया और चैन सिंह—प्रेमचंद ने अपनी ओर से कुछ भी नहीं जोड़ा। पर न जाने कैसे अंत में यह मुलिया और चैन सिंह की परस्पर मानवीय-विश्वास की कहानी बन जाती है। कचहरी में अपने बेजा व्यवहार के लिए मुलिया के सफाई देने पर जब चैन सिंह ने जोर देकर कहा कि उसे ऐसा कभी नहीं लगा तो मुलिया मुस्कराकर बोली—मुझे तुमसे यही आशा थी और है। इस तरह एक दलित औरत के लिए उसी विश्वास से जिससे उसने जातीय लम्पटता को दुत्कारा था, प्रेम के आस्वाद को स्वीकारना भी संभव हो सका। सहसा यह कहानी यांत्रिक भौतिकवाद से अलग द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की जमीन पर खड़ी हो जाती है।

परकाया प्रवेश की सीमा को, लेखन के संदर्भ में, प्रेमचंद ने इस तरह व्यक्त किया— 'अगर वह खुद उसी दलित समाज का एक अंग है, तब तो उसका काम कुछ आसान हो जाता है क्योंकि वह अपने मनोभावों का विश्लेषण करके अपने समाज की वकालत कर सकता है। लेकिन वह अधिकतर अपने मुवक्किल की आन्तरिक प्रेरणाओं से, उसके मनोगत भावों से अपरिचित होता है। ऐसी दशा में उसका पथ-प्रदर्शक मनोविज्ञान के सिवा कोई और नहीं हो सकता है।' (साहित्य और मनोविज्ञान)

एक संगत तुलना होगी 'सद्गति' (1930) की 'दंड' (1925) से। दोनों कहानियों में व्यवस्था के चालक सिरे को पकड़े पशुवत मनुष्य की मनमानी नहीं चल पाती, पर दोनों में घटनाक्रम का निर्वाह अलग-अलग हुआ है। 'सद्गति' में साइत निकलवाने के लिए दुखी चमार पंडित घासीराम की बेगारी में मर जाता है पर पुलिस की तहकीकात के भय से उसके टोलेवाले तक मुर्दे को उठाने नहीं आते, पंडित को ही उसे रस्सी से घसीटकर गांव से बाहर करना होता है— जानवरों द्वारा खाये जाने के लिए। 'दंड' में कचहरीबाज जगत पांडे ने मुकदमा जीतने के लिए जंट साहब मिस्टर सिन्हा को घूस पहुंचाई पर विपक्षी राजा साहब से बड़ी रकम पहुंच जाने पर जब सिन्हा ने पांडे के खिलाफ फैसला दे दिया, तो वह जंट के बंगले के बाहर इस ठसक से भूखा-प्यासा धरने पर बैठ गया— 'भगवान के दरबार में विप्रों का ही राज्य है। विप्र का धन लेकर कोई सुखी नहीं रह सकता।' बला टालने को अन्ततः सिन्हा उसे मुंहमांगी कीमत देने को राजी हो गया पर तब तक जगत पांडे उसके दरवाजे पर ही मर लिया। यह ब्राह्मण का शव था। किसी को भी पुलिस की तहकीकात के भय ने नहीं रोका। जब शव उठा तो हजारों आदमी साथ थे। यानी एक निरीह दलित और एक निरीह ब्राह्मण के शवों के निर्वाह में भी जमीन आसमान का अन्तर! प्रेमचंद की दलित जीवन की कथाओं ने सवर्ण मानसिकता को पीढ़ी दर पीढ़ी उसके जातिगत 'सदाचार' से मुक्त कराने की भूमिका बखूबी निभायी है। यहां तक कि एक ध्रुवीय 'कफन' को लेकर भी वे इसीलिए प्रेमचंद के प्रति ऋणी हैं।

प्रेमचंद ने उस जमाने में रचा जिसमें भारतीय भूखंड का एक राष्ट्र के अस्तित्व में बदलना तो तय बात थी, पर उन उपकरणों में भयानक खींचतान होती रही जो इस अस्तित्व रचना में सक्रिय थे। आर्थिक फलक पर साम्राज्यवाद, जागीरदारी, जमींदारी, स्वदेशी, में कशमकश और सामाजिक फलक पर आर्य समाज, ब्रह्मसमाज, द्रविड कषगम जैसे आंदोलन, और गांधी, आम्बेडकर, नेहरू, जिन्ना, विवेकानन्द, भगत सिंह, जैसे मसीहा छाये हुए थे। इस समूचे परिदृश्य को स्वराज की ललक एवं आधुनिक जीवन-मूल्यों ने संभव किया था, और इसके आर-पार अपनी-अपनी भूमिका में नौकरशाही, बुर्जुआजी, राष्ट्रीय-पूंजी, किसान-मजदूर की सक्रियता का प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न असर काम कर रहा था। 1936 में प्रेमचंद के निधन के समय इसके नकारात्मक परिणामों— विभाजन, पूंजीवादी-वर्चस्व, बुर्जुआ-परजीविता, नौकरशाही-नियंत्रण, साम्प्रदायिक-संकीर्णता— की वे भविष्यवाणी नहीं कर सकते थे। पर लक्षणों को चिन्हित करने में प्रेमचंद शायद ही चूके हों। उन्होंने उपरोक्त हर उपकरण को परखा अपनी ढेरों कहानियों में—बेशक अपने संस्कार, अपनी शंकाओं और अपने समाधानों को भी जगह दी। ●●

सम्पर्क : 9818603345

कविताएं

सुशीला बहबलपुर

आधुनिकता

जिन माओं ने नहीं उठाये ये
किताबों से भरे बैग कभी।
आज सौभाग्यवश उन्हीं माओं को।
मिला है मौका बैग उठाने का।
गांव में इसी वर्ष जो
इंग्लिस मीडियम स्कूल खुला है।
स्कूल के साथ-साथ
खुल गए घर से बाहर
जाने के रास्ते।
उन खुश किस्मत औरतों के
जिनके बच्चे पढ़ने जाते हैं।
इस नए स्कूल में
मानो उनका बचपना लौट आया हो।
इस शहरी प्रचलन ने।
तोड़ दिए कुछ रिवाज गांव के।
बच्चों के साथ वो भी।
कर रही है कुछ नया।
अन्जाने में ही सही
आखिर कुछ तो टूट रहा है।
इस सामाजिक ढांचे में

क्यों मढ़ देते हो दोष

क्यों मढ़ देते हो
तुम दोष बार-बार
उस अन्जान पर
जिसने नहीं सुनी
कभी ज्ञान की बात
जिसने नहीं पढ़ी
कभी ज्ञानवर्धक किताब
जो नहीं बैठी कभी
ज्ञानी पुरुषों के साथ
जिसने नहीं देखी कभी
चार दिवारी के बाहर की दुनिया।
जिसने नहीं सीखा भरना
अकेले उड़ान नभ में
सोची-समझी साजिश के तहत
रखा गया हमेशा उसे ज्ञान से महरूम
सिखाया गया उसे सिर्फ दास बनना
चुप रहना सब कुछ सहन करना

शब्दों का खेल

कितना सुंदर, दर्द भरा
व निराला है
शब्दों का खेल
इस प्राणी जगत में
अगर शब्द न होते
तो कुछ न होता
ज्ञान, संज्ञान से हम
होते अनभिज्ञ
न कोई अमीर होता
न कोई गरीब होता
न कोई छोटा न कोई
बड़ा होता।
न कोई मालिक न कोई
नौकर होता।
बेचारे शब्द भी करते हैं गुलामी
कलम चलाने वालों की
शब्दों को मनचाहे रूप में
तोड़-मरोड़ दिया जाता है।
फिर भी नहीं निकलती है।
आह इनके मुख से
जाने क्या-क्या और रचेगा।
शब्दों का खेल
इस भूमण्डल पर
हालांकि बनी है ये कविता भी
शब्दों के ही खेल से।

चुप

तुम चुप रहो
कोई बात नहीं
लेकिन
मैं चुप रहूं।
ये अच्छी बात नहीं।
क्योंकि मेरा चुप रहना
तोड़ सकता है।
आपकी खामोशी
जिसकी नहीं है
जरूरत शायद अभी।

मां रही है दर्शा तेरी ये दशा

कर दिये गए थे हाथ तेरे पीले
होते-होते किशोर
बिना जाने तेरी मंशा
शायद नहीं था पता तुझे
अर्थ इस गृह बन्धन का
वो बिखरी-बिखरी खुशियां
वो रिश्ते की महक
वस्त्र गहनों की चहक
सब बिखर गई चार दिन की चांदनी मानिद
पसर गया सन्नाटा
बन अन्धेरी रात का शागिर्द
बार-बार मां तेरे तन में से फूटता
यही दु:ख
तुने लुटा दिया हम सब पर सारा अपना सुख
फिर भी क्यों मां
तु मुझे
खुद जैसा चाहती है बनाना
जवानी में भी मां तू
जवान कम, बुढ़ी ज्यादा
कहता है ये तन तेरा
अब भी सोचता है मन बहुतेरा
आधी रात को पड़े खटिया पर
अब गृहस्थी से हूं बेखबर
बहू बेटा पर रोब जमाऊंगी
जी भर अपनी सेवा करवाऊंगी
लेकिन मां कुछ भी नहीं हुआ
वैसा तूने सोचा था जैसा।
ये उदास आंखें कहती हैं तेरी
हीन दिशाहीन का जग है बेटी
मां सच बता क्या सब ये है तेरे विचार
या व्यवस्था के आगे तू है ही लाचार
फिर क्यों मां
तु मुझे
खुद जैसा चाहती है बनाना
सब कुछ जानकर भी
जग के सम्मुख वस्तु की माफिक
चाहती है सजाना
क्यों मां क्यूं।

कब तक कैद

इन ऊंची इमारतों में
उन मोटी दीवारों में
कब तक रखोगे कैद
उन्हें
जो जानती है
दीवारों में कैद करने वालों को

नए रास्ते

मैंने चुने हैं कुछ
ऐसे रास्ते
जिनमें रीसते हैं रिश्ते
परम्परा से अलग
नई परम्परा के
कुछ से भिन्न
कुछ से खिन्न
और ज्यादा इन्सानियत के!

खतरनाक

खतरनाक होता है
सिर्फ अपने लिए जीना
और सब तरह की बेपरवाही
उससे भी खतरनाक है
आधार से कट जाना
सिर्फ अपनी ही बात करना
पर सबसे खतरनाक होता है
आगे बढ़कर, पीछे लौट आना
और न पछताना।

सच कहूं

जी चाहता है
मन करता है आज
बार-बार
खोल के रख दूं
अपने अन्दर का इन्सान
जिसमें हैं खामियां काफी

अन्दर के इन्सान
और
बाहर के इन्सान में भी
है काफी अन्तर
झकझोरता है बार-बार
अन्दर का इन्सान
नहीं है कुछ भी अस्पृश्य
प्रगतिशील इन्सान के लिए।
पर!
रोकता है टोकता है
बार-बार मुझे बाहरी इन्सान
नहीं है ये काबिल
हमारे साथ चलने हेतु
फिर इसी के समक्ष
खड़ा हो जाता है
एक और सवाल

स्टैण्ड

जाने कितने ही लोग
आते हैं।
संघर्ष के रास्ते पर
बदलते अपना जीवन
जो सिर्फ चाहते हैं
खुद के साथ-साथ
बदलना समाज को
लेकिन कुछ नियम
कानून-कायदे
व होते हैं सिद्धांत भी
संघर्ष से सटे रास्ते पर
चलने के लिए।
मगर नहीं ले पाते
वो स्टैण्ड
अपने जीवन सम्बन्धी
नहीं कर पाते तर्क-वितर्क
वो।
पारम्परिक ढांचों के खिलाफ
आखिर उसी सांचे में फिट हो
जाते हैं।
वो भी
जिन्होंने रखे थे कदम
संघर्ष के रास्ते
अफसोस नहीं कर पाते,
वो!
आत्मसात उस विचार को
जो दृढ़ बनाता है।
उसके अंदर के इन्सान को!

शायद हां

हां और शायद भी
मुश्किल है।
किसी चीज को बनाना
उसे संवारना व निखारना
और फिर
उससे भी ज्यादा मुश्किल है।
उसे संजो कर रखना।
हम ये जानते हैं।
यकीनन
अगर हम ये जानते हैं।
तो फिर जानबूझ कर
कब तक यू नाटक करते रहेंगे
अनभिज्ञ बने रहने का!

21वीं सदी में

न्यूज पेपर पढ़ते-पढ़ते
एकाएक
मेरी नजरें अटक गई
उस विचित्र चित्र पर
जो घूंघट में फूलों की
माला पहने दे रही थी
भाषण
खड़ी थी विधायक
बनने के लिए।
जो खुद संस्कारित है
समाज के रूढ़ि संस्कारों से
कैसे चला पाएगी देश को
प्रगतिशील विचारों पर
मैं पूछती हूं।
उन बूढ़े-बुजुर्गों से
जो देते हैं आर्शीवाद
उसे बेटी समझकर
लेकिन ढकी है जिसकी चार इंद्रियां
पर्दे के पीछे।
कैसा शासन दे पाएगी
वो इस शोषण से जूझते समाज को

न रह जाए सीमित

लिखना केवल लिखने तक
न रह जाये सीमित
सोच, सकपकाता है ये मन

कहना सिर्फ कहने तक
न रह जाए निमित
सोच, कचकचाता है ये मन

सोचना सिर्फ सोचने पर
न रह जाये आलम्बित
सोच, घबराता है ये मन

पीड़ा का सन्तोष

पीड़ाओं में जो पैदा हुए
पीड़ाओं में जिनका बचपन गुजरा
पीड़ाओं में ही रखे जिसने
जवानी की दहलीज पर कदम
पीड़ाओं में ही रहकर समझा
पीड़ाओं के कारण को
पीड़ाओं में रह लड़ना-सीखा
पीड़ाओं से छुटकारा पाने हेतु
पीड़ानाशक सूत्र दे, दूसरों को
खुद मरा सन्तोष की पीड़ा

सम्पर्क : 94681-68895

उपन्यास अंश

'ठहरे हुए पलों में'

ब्रह्मदत्त शर्मा

उतराखंड त्रासदी पर आधारित ब्रह्मदत्त शर्मा का उपन्यास 'ठहरे हुए पलों में' की उनके स्वयं के प्रामाणिक अनुभवों पर आधारित है। उपन्यास के केंद्र में दो परिवारों की कहानी है, जो साथ मिलकर केदारनाथ-बदरीनाथ यात्रा पर जाते हैं, लेकिन त्रासदी के दौरान बदरीनाथ में फंस जाते हैं। इन पंद्रह दिनों में यात्रियों द्वारा भोगे गए तमाम कष्टों व तकलीफों का वर्णन पूरे विस्तार से इस उपन्यास में किया गया है। इस उपन्यास के कुछ अंश यहां प्रस्तुत हैं। सं.

रास्ता चाहे कितना भी दुर्गम, खतरनाक और लंबा हो, आगे बढ़ता पथिक आखिरमंजिल तक पहुँच ही जाता है। हमारी मंजिल भी ठीक सामने थी- समतल व सपाट भूमि! .....ऋषिकेश!

बस के शहर में प्रवेश करते ही दो दिनों से थके-हारे यात्रियों में एक नया जोश, उत्साह व स्फूर्ति आ गयी। हर चेहरे पर प्रसन्नता व उल्लास झलकने लगा। पिछले पंद्रह दिनों से पहाड़ मानों किसी दैत्य की भाँति पीछे पड़े थे। नदी भी बदला लेने को आतुर घायल और बलखाती नागिन की भाँति बस के साथ-साथ दौड़ी चली आ रही थी। एक लंबे संघर्ष, दु:ख-तकलीफें और कष्टों के बाद ही इनसे मुक्ति मिली थी। दोबारा यहाँ आने के बारे में कभी सोचेंगे भी नहीं। शायद उम्र-भर! हालाँकि भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है, कौन जाने? लेकिन कम से कम इस समय तो हर यात्री मन ही मन कुछ ऐसी ही प्रतिज्ञा किए बैठा था।

बस-स्टैंड के नजदीक पहुँचते ही बच्चे जोर से चिल्ला उठे-'आ गया! आ गया! ..... बस-स्टैंड आ गया!' बड़ों की खुशी भी देखते ही बनती थी। नींद, सुस्ती व आलस त्यागकर यात्री तनकर ऐसे बैठे थे, जैसे विश्व-कप जीतकर स्वदेश लौटी क्रिकेट टीम के सदस्य हों।

मुख्य सड़क से बस जैसे ही अंदर घुसने लगी, आँखों के सामने एक बड़ा ही विचित्र और अद्भुत नजारा था। बस-स्टैंड के अंदर-बाहर चारों तरफ बेशुमार छोटे-बड़े पोस्टर ही पोस्टर टंगे या चिपके थे। चुनावी दिनों में उम्मीदवारों द्वारा अपने पक्ष में मतदान की अपील करने जैसे तस्वीरों वाले रंग-बिरंगे पोस्टर! पूरा बस-स्टैंड इन छोटे-बड़े हजारों पोस्टरों से पटा पड़ा था। इस समय तो देश-प्रदेश में कहीं चुनाव भी नहीं, फिर ये पोस्टर कैसे? कुछ भी समझ नहीं आया। लेकिन तभी दूर से एक तस्वीर के नीचे अंग्रेजी के बड़े-बड़े अक्षरों में 'मिसिंग' लिखा दिखाई दिया। इस एक शब्द ने क्षण-भर में ही जैसे पूरे रहस्य से पर्दा उठा दिया। अरे, यह तो त्रासदी में गायब लोगों की तस्वीरें थी!

बस-स्टैंड पर किसी मेले की भांति भारी भीड़ उमड़ी थी। बस को दूर से देखते ही किसी कस्बई रूट की कई घण्टों से इंतजार में बैठी सवारियों की भांति भीड़ उठकर दौड़ पड़ी। हैरानी हुई ये लोग चढ़ने को इतने अधिक उतावले क्यों थे? कोई उन्हें समझाए, जो बस दो दिनों का सफर तय करके यहां पहुंची थी, वह तुरंत ही दोबारा कैसे चल देगी? परन्तु इन बेवकूफों का झुण्ड तो बस की तरफ दौड़ा ही चला आ रहा था। असभ्य और गंवारों की भाँति ये उतरने वालों से पहले ही चढ़ने को आतुर थे। उनकी धृष्टता और उत्तेजना से अंदर मौजूद यात्रियों में भी एक अफरा-तफरी और खलबली-सी मच गई। वे भी जल्दी-जल्दी अपना सामान समेटकर नीचे उतरने को अधीर और घबराए-से दिखाई देने लगे। बाहर की भीड़ के सामने अंदर की सीटें काफी कम पड़ने वाली थी।

बस रुक चुकी थी। किंतु आश्चर्य!..... भीड़ में से कोई भी चढ़ने का प्रयास ही नहीं कर रहा था। वे बस गौर से एक-एक यात्री का चेहरा देखे जा रहे थे। शायद उनका कोई परिजन भी उतर आए! अच्छा तो वे सब अपने परिजनों को तलाशते लोग थे! उन्हें मन ही मन बेवकूफ, असभ्य और गँवार कहने पर ग्लानि हुई। जब परिजन दिखाई न दिए तो वे अपने हाथों में पकड़ी उनकी तस्वीरें जिंदा लौटे यात्रियों को दिखलाने लगे-''सर, क्या इन्हें कहीं देखा है? ....बहिन जी, इनके बारे में कुछ पता है?'' यात्री दु:खी मन से चुपचाप 'नहीं' में गर्दन हिला देते, मानों उनमें बोलकर 'ना' कहने की भी हिम्मत न थी। हर चेहरे पर निराशा और हताशा उभरकर उम्मीद की जैसे एक और किरण बुझ जाती! फिर वे स्वयं ही यात्रियों को घेर कर अपने बिछड़े परिजनों की कहानी सुनाने लगते। कौन कहाँ से कब गायब हुआ था। आखिरी बार फोन पर कब व क्या बातचीत हुई। उन्होंने कितना और कहाँ-कहाँ तलाश किया। बताते-बताते उनकी आँखें छलक जाती। प्रत्येक गौर से सुनता, सांत्वना देता और परिजनों के लौटने की दुआ करता आगे बढ़ जाता। हर दास्तान इतनी दु:खभरी, मार्मिक और पीड़ाजनक कि सुनकर पाषाण हृदय भी पिंघल जाए।

उदास और दु:खी मन से हम भी अगली बस पकड़ने के लिए चल पड़े। तभी एक लड़का अधेड़ उम्र के दंपति की तस्वीर लिए सामने आकर खड़ा हो गया-" सर, मेरे मम्मी-डैडी हैं! इन्हें कहीं देखा है? किसी जंगल में, किसी पहाड़ पर, किसी आश्रय-स्थल पर? कहीं भी..... जिंदा या मुर्दा?'' कहकर वह बिलख-बिलखकर रोने लगा। मैं चुपचाप और असहाय-सा खड़ा देखता रहा। उसे अब कैसे तसल्ली दी जाए? सांत्वना के लिए कुछ भी कहना मानो निरर्थक लग रहा था। बड़ी मुश्किल से स्वयं को संभाला और उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा-'' भैया, हमने तो कहीं नहीं देखा, मगर आप धैर्य रखिए। जैसे हम बचकर आए हैं वे भी जरूर आएंगे!' आगे और कुछ भी न बोला जा सका। आरती और सविता ने दूसरी तरफ मुँह फेरकर आँसू पोंछ लिए।

आपदा में गायब लोगों के परिजन अपने सभी काम-धंधे छोड़कर पिछले कई दिनों से यहाँ डेरा डाले बैठे थे। सिर्फ यहाँ ही क्यों, बल्कि देहरादून बस-स्टैंड और एयरपोर्ट

आदि जैसी अनेकों जगहों पर भी रात-दिन भाग-दौड़ करके उन्हें तलाश रहे थे। बहुत-से अन्य त्रासदी के आसपास के इलाकों की ही खाक छानते भटक रहे थे, किंतु किसी के कुछ भी हाथ नहीं आ रहा था।

मैं कुछ देर उन्हें उदास मन से खड़ा देखता रहा। किसी भी बस के अंदर प्रवेश करते ही वे हर बार एक नई उम्मीद लेकर उस तरफ दौड़ पड़ते। एक-एक चेहरे में बड़े गौर से अपने परिजन तलाशते और फिर एक बार नाउम्मीद हो जाते। न जाने बेचारे आखिर कब तक उन्हें यूँ ही तलाशते रहेंगे? सूचना-क्रांति के इस युग में पंद्रह दिन तक भी जिसकी कोई खोज-खबर नहीं, उसके जिंदा बचने की संभावना ही कितनी हो सकती थी। यह बात हर यात्री जानता था और शायद पूछने वाला भी! किंतु जिससे जीवन-भर का बंधन रहा हो, जिसे खुशी-खुशी अपनी आंखों के सामने विदा किया हो, जिससे हर रोज बात होती हो, जिसकी लाश तक भी न देखी हो; उसी के बारे में कैसे मान लें वह अब इस दुनिया में है ही नहीं। ऐसी विचित्र स्थिति में उनकी किस्मत पर बड़ा तरस और रोना आता। बेचारे न तो गायब परिजनों को जिंदा मान सकते थे और न ही मुर्दा! अगर लाश मिल जाए तो इंसान अंतिम-संस्कार के बाद सब्र भी कर ले। रो-धोकर कुछ दिनों बाद सामान्य हो जाए। लेकिन यह दु:ख तो न जाने उन्हें कब तक सालता और मथता रहेगा? पहली बार जाना मौत के कुछ दु:ख मौत से बढ़कर दु:खदायी भी हो सकते हैं!

वापस लौटने की सारी खुशी, उत्साह और जोश यह मंजर देखकर जाने कहाँ काफूर हो गया। पिछले पंद्रह दिनों के अपने सभी संघर्ष, दु:ख-तकलीफें और मुसीबतें बसों के पीछे दौड़ते इन परिजनों के दु:ख के पहाड़ के आगे बिल्कुल चींटी जैसे लगने लगे थे।

खड़े-खड़े अचानक मन में एक विचार कौंधा और फिर वहीं अटका रह गया। इस त्रासदी की चपेट में हम भी आ जाते तो.....? तब हमारी तस्वीरें भी बस-स्टैंड के किसी कोने में ऐसे ही चिपकी होती। हमारे परिवार भी बसों के पीछे फोटो लिए ऐसे ही दौड़ रहे होते! बुढ़ापे की वजह से पिता जी से दौड़ा भी न जाता। अचानक उन पर बड़ा तरस और दया महसूस हुई।

बस-स्टैंड पर जैसे कोई मेला लगा था- सुख और दु:ख का मेला! एक तरफ मौत के मुँह से सुरक्षित लौटे यात्रियों की प्रसन्नता, उत्साह व उल्लास था, तो दूसरी तरफ अपनों की तलाश में भटकते लोगों की धुंधलाती उम्मीदों के आँसू, रुदन और क्रंदन था। त्रासदी, वक्त और किस्मत ने यहां उपस्थित लोगों को जैसे दो परस्पर विरोधी खेमों में विभाजित कर दिया था।

प्रशासन द्वारा अपनी पिछली सभी नाकामियां छुपाने खातिर यहाँ काफी बेहतर इंतजाम किए गए थे। ज्यादातर राज्य-सरकारों ने अपने-अपने प्रदेश के यात्रियों को खाने-पीने, चिकित्सा और यातायात जैसी तमाम सुविधाएं मुफ्त में उपलब्ध करवा रखी थी। हरियाणा-पुलिस ने हमें भी लपक लिया और जबरदस्ती हमारा सामान पकड़कर खाने के लंगर की तरफ ले गए। हम आज्ञाकारी बच्चों की भाँति उनके पीछे-पीछे चलते न चाहते हुए भी खाने बैठ गए। खाते-खाते अचानक मेरी आँखों के सामने पोस्टर में मौजूद लोगों की तस्वीरें और उनके नीचे लिखे नाम, उम्र, पता आदि तैरने लगे। परिजनों के रोते-बिलखते चेहरे तो जैसे नजरों के सामने से हट ही नहीं रहे थे। काश मेरे पास कोई दिव्य-शक्ति होती, जिससे पोस्टर में मौजूद हर व्यक्ति को जिंदा करके उसके परिजनों को सौंप देता! फिर उन गमगीन चेहरों पर एक आश्चर्य-मिश्रित प्रसन्नता, उल्लास और खुशी के आँसू देखता। काश मैं ऐसा सचमुच कर पाता! किंतु ऐसी शक्ति मुझ जैसे तुच्छ प्राणी के पास तो क्या, अब स्वयं भगवान के पास भी नहीं थी। मन उचाट होने से खाना न खाया जा सका और थोड़ा-सा खाकर ही उठ गया। बाकी भी ठीक से न खाकर पीछे-पीछे ही उठ खड़े हुए।

खाने के बाद पुलिस हमें किसी वी. आई. पी. की भाँति संभालते व सहेजते हुए बस तक छोड़ आई। कड़क लहजे के लिए बदनाम अपनी राज्य-पुलिस को ऐसे बर्ताव करते देख आश्चर्य हुआ और प्रसन्नता भी! बस एक बार फिर से चल पड़ी थी, मगर इस बार समतल और सपाट भूमि पर....

2

भंडारों के हालात.....

अगली शाम हम एक होटल के प्राँगण में खाने के लिए जमींन पर बैठे थे।

यात्रियों को राहत पहुँचाने खातिर सरकार द्वारा यहाँ एक भण्डारे का आयोजन किया गया था। इसकी बकायदा घोषणा पुलिस स्टेशन से लाउड स्पीकर द्वारा की गई थी, जहाँ से सभी प्रमुख घोषणाएं होती थी। ..... सरकार और भण्डारा! वह भी किसी प्रसिद्ध और शानदार सरकारी होटल में! सुनकर ही ताज्जुब हुआ था।

रात का इंतजार किये बिना हम शाम को ही इधर आ धमके, मगर दूसरे भी कम सयाने न थे। वे हमसे पहले ही मजे से बैठे खा रहे थे। बहुत-से आगे प्लेटें रखे अपनी बारी का इंतजार कर रहे थे, जिनमें अब मेरा ग्रुप भी शामिल था। देखते ही देखते यात्रियों की संख्या बढ़ने लगी। अपनी सदियों पुरानी लापरवाही की आदत और दूरदर्शिता के अभाव में सरकारी प्रशासन को इतने लोगों के आगमन का दूर-दूर भी कोई अंदेशा न था। भीड़ के सामने प्राँगण, बर्तन, बांटने वाले और खाना सभी कुछ कम पड़ने लगा। धीरे-धीरे यहां एक भगदड़ और अव्यवस्था-सी फैल गई।

'पापा, भीड़ बढ़ती जा रही है।' शिवांगी होटल के पूरे प्रांगण व बरामदे को ठसाठस भरता देखकर परेशान-सा होकर बोली। 'यहां अब कुछ भी नहीं मिलेगा!'

'यहां से उठो, पापा! हमारी बारी कभी नहीं आएगी। कहीं ओर जाकर खाते हैं।' देर तक प्लेटें आगे रखे रहने से निराश साहिल भी अब अमित से जिदकर रहा था। किंतु हम बच्चों को अनसुना करके अभी और इंतजार के मूड में थे।

एक लड़का हमारे नजदीक से सब्जी की बाल्टी लिए गुजरा। सविता ने उसे लगभग डाँटते हुए रोका-'हम यहा घण्टे-भर से बैठे हैं, हमें क्यों नहीं दे रहे?' वह बेचारा डाट से घबराकर सब्जी डाल गया।सविता का तेज-तर्रार स्वभाव किसी खोटे सिक्के की भांति ऐसे मौकों पर बड़ा काम आता था। कुछ राहत महसूस हुई, लेकिन पूरी बाँटने वाला लड़का जैसे ही टोकरी लेकर आता लोग रास्ते में ही पूरियां छीन लेते और हम तक पहुँचने न देते। इंतजार फिर से काफी लंबा हो चला। परेशान होकर अब हम बिना खाये ही उठ जाना चाहते थे, लेकिन सामने प्लेटों में डली सब्जी की महक हमें वहीं बैठे रहने को मजबूर कर रही थी। आखिरकार तंग आकर हमसे पिछली लाइन से सचमुच दस-पन्द्रह लोग प्लेटें वहीं छोडकर एक अहसान-सा जताते उठ खड़े हुए। जाते हुए भी मुड़-मुड़कर शायद इस उम्मीद में देखते रहे कि आयोजक दौड़े-दौड़े आकर रोक लेंगे और सबसे पहले उन्हें ही खाना परोसेंगे। परन्तु किसी को यहां इतनी फुर्सत ही कहां थी।

उनके जाने के बाद हमारा भी धैर्य जवाब दे गया। अमित लगभग उठ खड़ा हुआ था, मगर रामू ने रोका-'मास्टर जी, रुकिए!मैं कोशिश करके देखता हूं।' इस बार पूरियों से भरी टोकरी के बाहर आते ही वह छीना-झपटी

कर रहे लोगों की तरफ दौड़ा। बीच में घुसकर उन्हें पीछे धकेलते हुए दस-बारह पूरियाँ उठाकर किसी कबड्डी खिलाड़ी के पाले पर हाथ लगाने की भाँति भीड़ को चीरता हुआ बाहर निकल आया। यात्रियों को यूं जानवरों की भाँति खाने पर झपटते देख मुझे अजीब और भद्दा लगा, किंतु रामू के चेहरे पर विजयी मुस्कान थी। किसी के हिस्से में एक पूरी आई और किसी के दो। स्वादिष्ट खाने ने हमारी भूख और बढ़ा दी। हम फिर से इंतजार करने लगे। रामू ने पिछली जीत से उत्साहित एक कोशिश और की, मगर इस बार वह भी शर्मिंदा-सा होकर खाली हाथ लौट आया।

ठीक सामने औरतों और छोटे-छोटे बच्चों का एक झुण्ड हमसे भी काफी पहले सब्जी आगे रखे पूरियों के लिए चिल्ला रहा था। एक बाँटने वाले लड़के को आखिरकार उन पर तरस आया। झपटने को तैयार खड़े आदमियों के झुण्ड से स्वयं को बड़ी मुश्किल से बचाता हुआ वह औरतों व बच्चों की तरफटोकरी लेकर ऐसे दौड़ा जैसे कोई फुटबाल खिलाड़ी विरोधी खिलाड़ियों से गेंद बचाकर गोल करना चाहता हो। उसे देखते ही हम औरतों पर चिल्लाए-'जाओ, तुम भी लेकर आओ! .....जल्दी!' आरती और सविता बिजली-सी फुर्ती से उधर दौड़ पड़ी। वे औरतों के झुण्ड के बीच से दस-बारह पूरियां झपट लाई, जबकि छोटे बच्चे बड़ों की इस छीनाझपटी के बीच एक भी पूरी प्राप्त न कर सके। आते वक्त दोनों के बाल और कपड़े अस्त-व्यसत थे, मगर वे अपनी इस उपलब्धि पर अत्यंत प्रसन्न थी। हम एक बार फिर से मजे से खाने लगे थे। सामने टकटकी लगाए बैठे भूखे बच्चे हमें घूर रहे थे। उन्हें देखकर शर्म व ग्लानि महसूस हुई। लेकिन मैं वक्त और भूख के हाथों लाचार था और शायद यहाँ उपस्थित हर व्यक्ति मेरी ही भाँति था।

भीड़ अब तक इतनी बढ़ चुकी थी कि कुछ और मिलना असंभव था। हम आधे भूखे और आधे रजे ही दूसरों के साथ उठ खड़े हुए। सरकार एक बार फिर असफल साबित हुई थी।

जैसे-जैसे दिन बीतते गए, वैसे-वैसे अन्य यात्री भी होटल, रेस्टोरेंट व ढाबों को छोड़कर भण्डारों की तरफ रुख करने लगे। पैसे बचाने की जो तरकीब हमें सूझी थी, उन्हें भी सूझी होगी। परिणामस्वरूप भीड़ के सामने दानी सज्जनों द्वारा लगाए भण्डारों की भी अभी तक चुस्त-दुरुस्त सभी व्यवस्थाएं चरमराने लगी। यहां भी अब एक अनार और सौ बीमार वाले हालात थे।

कुछ तथाकथित अमीर व 'हाई-फाई' यात्री शुरुआत में भण्डारों में जाने से हिचकिचाए और बाद में पूरी बेशर्मी से शामिल हो गए। ....कैसे? छीना-झपटी करने वालों में वही अब सबसे आगे थे। शुरुआत में स्वयं को विशिष्ट समझने की गलतफहमी में वे लाइन तोड़कर बीच में घुसने का प्रयास करते। परन्तु 'आम आदमी' भी उन्हें घुसने न देते। क्यों दें? यहाँ सबको अपनी-अपनी जान की पड़ी थी। बेचारों को फिर मजबूरी में थक-हारकर पीछे ही लगना पड़ता। अंग्रेजी में आपस में गिटमिट करती, हाथों में महंगे मोबाइल थामे, पश्चिमी परिधानों में सजी-धजी औरतों और साथ-साथ 'विशिष्ट' आदमियों को जब मैं भिखारियों की भाँति खाने पर टूटते देखता, तो सचमुच बड़ा आश्चर्य होता। मनुष्य की सारी हेकड़ी,अकड़ और अहंकार किसी बड़े संकट में फंसने से पहले तक ही कायम है, वर्ना परिस्थितियां और हालात अच्छे-अच्छों को गज की भांति सीधा कर देते हैं। फिर भी न जाने क्यों इंसान इनसे कोई सबक नहीं लेता। संकट समाप्त होते ही उसका अहंकार ठीक उसी पुराने रूप में वापस लौट आता है। ●●

सम्पर्क : 94169-55476

रणबीर सिंह दहिया की रागनी

1.

ऊधम सिंह नै सोच समझ कै करी लन्दन की जाने की तैयारी।।
राम मुहम्मद नाम धरया और पास पोर्ट लिया सरकारी।।

किस तरियां जालिम डायर थ्यावै चिन्ता थी दिन रात यही
बिना बदला लिये ना उल्टा आऊं हरदम सोची बात यही
उनै मौके की थी बाट सही मिलकै उंच नीच सब बिचारी।।

चौबीस घण्टे उसकै लाग्या पाछै यो मौका असली थ्याया ना
जितने दिन भी रहया टोह मैं उनै दाणा तक भी भाया ना
लन्दन मैं भी भय खाया ना था ऊधम क्रान्तिकारी।।,

दिन रात और सबेरी डायर उनै खड़ा दिखाई दे था
हाथ गौज में पिस्तोल उपर हमेशा पड़या दिखाई दे था
भगत सिंह भिड़या दिखाई दे भर आंख्यां के मां चिन्गारी।।

होई कदे समाई कोन्या उसकै लगी बदन मैं आग भाई
न्यों सोचें जाया करता हमनै हो खेलना खूनी फाग भाई
रणबीर का सफल राग भाई जिब या जनता उठै सारी।।

2.

धांय धांय धांय होई उड़ै दनादन गोली चाली थी।।
कांपग्या क्रैक्सटन हाल सब दरवाजे खिड़की हाली थी।।

पहली दो गोली दागी उस डायर की छाती के म्हां
मंच तै नीचैं पड़ग्या ज्यान ना रही खुरापाती के म्हां
काढ़ी गोली हिम्माती के म्हां खतरे की बाजी टाली थी।।

लार्ड जैट कै लागी जाकै दूजी गोली दागी थी
लुई डेन हेन हुया घायल मेम ज्यान बचाकै भागी थी
चीख पुकार होण लागी थी सब कुर्सी होगी खाली थी।।

बीस बरस ग्यारा म्हीने मै जुलम का बदला तार लिया
तेरह मार्च चौबीस मैं माइकल ओ डायर मार दिया
अचम्भित कर संसार दिया उनै कोन्या मानी काली थी।।

जलियां आळे बाग का बदला लिया लन्दन मैं जाकै
अंग्रेजां नै हुई भिड़ी धरती भाग लिये वे घबराकै
रणबीर नै कलम उठाकै नै झट चार कली ये घाली थी।।

सम्पर्क: 981213900

●●

आलेख

शहीद उधम सिंह

राजविन्द्र चंदी

जन्म और प्रारंम्भिक जीवन

26 दिसम्बर 1899 को माता नारायणी कौर की कोख से एक बच्चे ने जन्म लिया जिसने आगे चलकर इतिहास रचा, जिसको याद करके हम भारतवासी गर्व महसूस करते हैं। शहीद उधम सिंह के पिता टहल सिंह गांव सुनाम जिला संगरूर जो उस समय पटियाला रियासत का हिस्सा था, के एक छोटे किसान परिवार से सम्बन्ध रखते थे, जो गांव के जमीदार से जमीन ठेके-हिस्सा पर लेकर थोड़ी खेती करते थे और साथ ही गांव उप्पाली रेलवे फाटक पर गेटमैन की नौकरी करते थे। शहीद उधम सिंह का जन्म जिस घर में हुआ वह एक कमरे का मकान था जिसको बनाने के लिए नानकशाही इंटों का प्रयोग किया गया था। टहल सिंह का अमृत छकने से पहले नाम चुहड़ सिंह था। मुक्ता सिंह उधम सिंह के बड़े भाई थे। उधम सिंह का नाम उनके पिता ने शेरसिंह रखा था। दूसरे बेटे के जन्म से माता-पिता की खुशी दुगनी हो गई थी। उधम सिंह वा मुक्ता सिंह दोनों कक्ष के साथ एक छोटा सा आंगन था जिसमें खेलते थे। शेरसिंह नीडर, साहसी व स्वाभिमानी प्रकृति का व्यक्ति था। उसने छोटी उम्र में कुश्ती लड़ना, गुलेल चलाना सीख लिया था। माता नारयाणी देवी की इच्छा थी कि उनकी बेटे बड़े होकर अफसर बने। एक दिन माता नारयाणी देवी को टाईफाईड बुखार हो गया जिस कारण सन् 1901 को उनका देहान्त हो गया। जिससे टहल सिंह को भारी धक्का लगा। अब उन अकेले पर छोटे-2 बच्चों को पालने पोसने की जिम्मेवारी आ गई। टहल सिंह ने उधम सिंह वा मुक्ता सिंह (साधु सिंह) की पढाई के मद्देनजर रखते हुए अपना स्थानांतरण अमृतसर स्टेशन पर करवा लिया और दोनों भाईयों को वहां स्कूल में दाखिल करवा दिया । सन् 1907 में एक दिन अचानक टहल सिंह के पेट में दर्द हुआ, दस्त लग गए, जिस कारण उनकी मृत्यु हो गई। दोनों भाईयों पर जैसे पहाड़ टूट पड़ा हो। दोनों बच्चे अनाथ हो गए ।

समाजसेवी चन्दा सिंह व पंडित जय चन्द शर्मा के प्रयासों से उधम सिंह व मुक्ता सिंह को अनाथाश्रम में भर्ती करवा दिया गया । *सरकारी पंजी के क्रमांक 121, 122 पर क्रमश: साधु सिंह वा शेर सिंह पुत्रान टहल सिंह उर्फ निहाल सिंह, मौहल्ला रामपुरिया, ग्राम सुनाम, जनपद संगरूर और अस्थाई पता रेलवे क्वार्टर, रेलवे कालोनी अमृतसर लिखा हुआ है।* मुक्ता सिंह को उनके स्वभाव के अनुरूप अनाथाश्रम के अधीक्षक ने साधु सिंह नाम दिया ।

शेर सिंह के चंचल स्वभाव, लीक से हटकर चलने और खाने पीने की सुविधा में गिरावट होने पर लड़ने की प्रवृति के कारण अनाथाश्रम के प्रभारी ने शेर सिंह को उधम सिंह के नाम से संबोधन देना शुरू कर दिया ।

जिज्ञासु प्रवृति

उधम सिंह की जिज्ञासा ने देश दुनिया की बदलती स्थिति को जानने में उनकी मदद की। उधम सिंह अनाथालय के प्रभारी और अपने गुरूदेव पंडित जयचन्द शर्मा से विश्वयुद्ध के बारे में विचार विमर्श करता। इसी से ज्ञात हुआ कि इस वीभत्स युद्ध का प्रभाव केवल युद्ध में संलिप्त देशों तक ही सीमित नहीं है बल्कि युद्धेतर राष्ट्रों विशेषकर भारत और मिस्र जैसे गुलाम देशों की आर्थिक स्थिति पर भी पड़ेगा और आगे चलकर विश्वयुद्ध के बाद शांति के लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई। सरदार चन्दा सिंह उधम सिंह वा साधु सिंह को उनके पारिवारिक पेशे की जानकारी देते रहते थे । अनाथाश्रम में पढ़ाई की सुविधा के साथ-साथ एक अच्छा पुस्तकालय था जिसका भरपूर प्रयोग उधम सिंह ने अपना वैचारिक स्तर ऊपर उठाने के लिए किया। उन्होंने विशेषकर इस पुस्तकालय से 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम का ज्ञान प्राप्त किया। वह प्रतिदिन पुस्तकालय में जाता और वहां पर पुस्तकों के साथ देश दुनिया के हालात जानने के लिए समाचार पत्रों को भी पढ़ता। समय-समय पर जब पंडित जयचन्द शर्मा से साक्षात्कार होता तो उधम सिंह प्रश्नों की झड़ी लगा देता। उधम सिंह का अनाथाश्रम प्रवास घटनाओं से परिपूर्ण रहा। वह आश्रम के बच्चों को एकत्र करके स्वस्थ रहने की ट्रेनिंग देता। आत्मसम्मान और स्वाभिमान का पाठ पढ़ाता। कभी खाने को लेकर आश्रमवासी बच्चों को धरने पर बिठा देता। आश्रम के अधीक्षक उधम सिंह के गुरूदेव व अभिभावक पंडित जयचन्द शर्मा को उधम करने की शिकायत करता। इसलिए शेर सिंह से उसका नाम बदलकर उधम सिंह रख दिया। यह नाम आगे चलकर हिन्दुस्तान के क्रांतिकारी आन्दोलन में इतिहास बन गया।

बडे भाई का निधन

साधू सिंह को एक दिन बुखार हो गया और बुखार का सही ईलाज उन दिनों में उपलब्ध नहीं था। जो निमोनिया में तबदील हो गया। आश्रम अधीक्षक ने डाक्टर की सहायता ली परन्तु निमोनिया पर नियंत्रण ना हो सका। सन् 1917 को आखिरकार उनकी मृत्यु हो गई। उधम सिंह के सिर से उसके बड़े भाई का साया भी उठ गया । उसने 2 दिन तक खाना नहीं खाया और रोता रहा। उसके मनोबल को भारी धक्का

लगा। एक बार उन्होंने आत्महत्या करने की भी सोची पर गुरूदेव पंडित जय चन्द शर्मा ने उधम सिंह की अवसाद जन्म विक्षिप्तता को देखकर उसे अपने घर ले गए और उधम सिंह की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया। उधम सिंह को वह शिक्षा के साथ-साथ व्यावहारिक ज्ञान भी देते। देशभक्ति, आत्मसम्मान, अपने पौरूष पर अखण्ड विश्वास की भावना का संचार किया । चन्दा सिंह ने उधम सिंह को गुरूमुखी वा उर्दू सीखने में बड़ी मदद की। अन्ततः सन् 1918 में उधम सिंह ने 10 वीं की परीक्षा पास की ।

रौलेट एक्ट

सिडनी रौलेट ने जो कानून तैयार किया वो 'रौलेट एक्ट' के नाम से भारतीय इतिहास में अभिज्ञात है। इस अधिनियम ने सरकार को कतिपय विशेषाधिकार प्रदान किए। यथा बिना वारंट के किसी को भी गिरफ्तारी बिना अभियोग चलाये किसी को भी कारागार में नजरबन्द करना और ऐसी विशेष अदालतों में मुकदमें चलाने का अधिकार देना जिसमें न जूरी के सदस्य हों और जिसके आदेश के विरूद्ध अपील भी न हो सके। इस कानून को महात्मा गांधी की अगुवाई में पूरे देश ने मानने से इन्कार कर दिया और विरोध में समेकित जनान्दोलन छिड़ गया। परन्तु इसके विरोध की ज्वाला पंजाब में अधिक प्रज्जवलित हुई। पंजाब के सक्रिय एंव समर्पित नेता डा. सैफुद्दीन किचलू और डा. सत्यपाल थे। दोनों जनप्रिय थे। जिनकी बातों को लोग बिना प्रश्न के स्वीकार करते थे। उस समय पंजाब में मुसलमानों और सिखों में अभूतपूर्व एकता ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए चुनौती बनी हुई थी। 9 अप्रैल का पूरे पंजाब में सिख व मुसलमान इकट्ठे होकर` राम नवमी और ईद मना रहे थे।

महात्मा गांधी ने 30 मार्च 1919 को इस अधिनियम के विरूद्ध आंदोलन चलाने की घोषणा कर दी। अमृतसर पूरी तरह से बन्द हो गया। शाम को डा. सैफुद्दीन किचलू की अध्यक्षता में एक बृहद सभा का आयोजन किया गया। इस सभा में उधम सिंह ने भी भाग लिया। इस सभा में सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित किया गया कि रौलेट एक्ट को पुर्णतः रद्द किया जाए। इस प्रस्ताव की एक प्रति पंजाब के लैफ्टीनेंट गवर्नर सर माईकल ओ डायर को भी भेजी गई। जिसको देखकर वह आग बबूला हो गए। उन्होंने अमृतसर के उपायुक्त माईकल ईरविंग को दोनों नेताओं को गिरफ्तार करने के निर्देश दिए। दोनों नेताओं को बातचीत के बहाने बुलाकर गिरफ्तार करके धर्मशाला कारागार में भेज दिया गया। जिससे लोगों में रोष फैल गया। सरकारी कार्यालयों, कचैहरियों और न्यायालयों पर लोगों का आक्रोश उमड़ पड़ा। नारों के साथ पत्थर फेंकने की वारदातें बढ़ने लगी। 10 व 11 अप्रैल 1919 को विशाल जुलूस अमृतसर में निकले। इन जुलूसों पर अंग्रेजों ने फायरिंग की जिसमें अनेक लोग घायल हुए और 11 अप्रैल 1919 को फायरिंग के कारण दो लोगों की मृत्यु हो गई। इन सब कार्यवाहियों में उधम सिंह ने अन्य क्रांतिकारियों के साथ आगे बढ़कर हिस्सा लिया। आक्रोशित लोगों का प्रथम निशाना बना डाकतार विभाग, दूसरा लक्ष्य रेलवे स्टेशन व रेल पटरियां। एक गाड़ी को रुकवाकर भीड़ ने उसके गार्ड राबिन्सन को मार दिया। नैशनल बैंक के प्रबन्धक व सहायक को लोगों ने पीट पीटकर मार दिया। अमृतसर के उपायुक्त ने आर्मी भेजने का अनुरोध किया जिस पर गवर्नर ओ डायर ने अमृतसर में 475 अंग्रेज व 710 भारतीय सिपाही भेज दिए और उनका नेतृत्व करने के लिए 45 ब्रिगेड के ब्रिगेडियर जनरल रेजीनाल्ड ई.एच. डायर को नियुक्त किया और जनरल डायर को आदेश दिया कि वह भारतीयों को सबक सिखा दे ।

जलियांवाला बाग कांड

13 अप्रैल 1919 को सुबह से ही स्वर्ण मन्दिर में लोगों ने आना शुरू कर दिया। शाम होते-होते जलियांवाला बाग बूढों, जवानों, महिलाओं व बच्चों से भर गया। जिनकी संख्या लगभग 20,000 होगी। लोग अपने प्रिय नेताओं डा.किचलू व डा. सत्यपाल की रिहाई के नारे लगा रहे थे। डा. हंसराज ने लोगों को संबोधित किया। उधम सिंह अपने साथियों सहित पुतलीघर आश्रम की तरफ से उपस्थित लोगों को पानी पिलाने की सेवा कर रहा था।

जलियांवाला बाग के इर्द-गिर्द मकान बने हुए थे। आने-जाने का एक ही रास्ता था। ओ डायर ने उस रास्ते पर तोप तैनात कर दी और अपने साथ 86 नेपाली व 25 बलूची सशस्त्र सिपाहियों के साथ मोर्चा सम्भाल लिया। खुखरियों से लैस चालीस गोरखा और दो हथियार बन्द गाड़ियां गली के बाहर तैनात कर दी। लोग अपना विरोध शांतिप्रिय तरीके से कर रहे थे, ओ डायर ने बिना नियमों की पालना किए, बिना सक्षम दंडाधिकारी के आदेश के फौजी दस्तों को सभा पर गोलियां चलाने का आदेश दे दिया। कुल 15 मिनट में 1650 राऊंड गोलियां चलाई गई। लोग अपनी जान बचाने के लिए इधर उधर भागे। कुछ लोग अपनी जान बचाने के लिए कुएं में कूद गए जिससे 120 लोग कुंए में गिरने से शहीद हो गए। आधिकारिक रूप से मरने वालों की संख्या 379 बताई गई जबकि पंडित मदन मोहन मालवीय के अनुसार 1300 लोग मारे गए। स्वामी श्रद्धानंद के अनुसार मरने वालों की संख्या 1500 से अधिक थी जबकि अमृतसर के तत्कालीन सिविल सर्जन डा. स्मिथ के अनुसार 1800 से ज्यादा लोग मारे गए। राजनैतिक कारणों से जलियांवाला बाग में मारे गए लोगों की सही संख्या कभी सामने नहीं आ पाई। ओ डायर के निर्देश पर डायर द्वारा किए गए कत्लेआम को उधम सिंह ने अपनी आंखों से पीपल के तने के पीछे से देखा। लाशों के ढेर में वह रोता रहा जैसे ही अंधेरा हुआ वह पानी की मांग कर रहे घायलों को पानी पिलाने में जुट गया। अंधेरे में एक रतना देवी नामक महिला अपने पति को लाशों के ढेर में ढूंढ रही थी, उसके पति को ढूंढवाने में मदद की और अगली सुबह उसके पति की लाश को कंधा देकर उसके घर तक पहुंचाने में मदद की। घायलों को प्रशासन की तरफ से मैडिकल ईलाज नहीं दिया गया। जिससे मरने वालों की संख्या में ओर ज्यादा ईजाफा हुआ। पंजाब में मार्शल लॉ लगा दिया गया। इस अमानवीय घटना के विरोध में पंजाब व देश के अन्य हिस्सों में रैलियां निकालकर डायर को फांसी की सजा देने की मांग की गई। परन्तु सरकार ने डायर को सजा देने की बजाय शाबाशी दी। यहां तक कि अंग्रेज अफसरों ने पैसा इकट्ठा करके माईकल ओ डायर व जनरल डायर को 20-20 हजार पौंड बतौर इनाम दिए गए। रविन्द्रनाथ टैगोर ने घटना से क्षुब्ध होकर अपनी सर की उपाधि वापिस कर दी थी।

प्रतिज्ञा

उधम सिंह जलियांवाला बाग नरसंहार के लिए पंजाब के गवर्नर ओ डायर भारत के सचिव लार्ड जैटलैन्ड व जनरल

डायर को जिम्मेवार मानते थे और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वह इस घटना का बदला इन अधिकारियों को मारकर लेगें, और देश को आजाद करवाना उनके जीवन का मकसद है। 14 अप्रैल 1919 को किंग एडवर्ड पार्क में एक शोक सभा का आयोजन किया गया। इस सभा में अन्य क्रांतिकारियों के साथ उधम सिंह भी शामिल हुए। इस सभा की गतिविधियों पर नजर रखने के लिए तैनात एक खुफिया इंसपैक्टर को भीड़ ने पहचान लिया और उसको पीट-पीटकर अधमरा कर दिया। दंडाधिकारी व घुड़सवार पुलिस के आ जाने से भीड़ तीतर-भीतर हो गई ।

संसद में बहस

बिगड़ती परिस्थितियों को देखकर ब्रिटिश सरकार संसद में जलियावाला बाग कांड पर बहस कराने को राजी हो गई। 8 जुलाई 1919 को बहस की तिथि निर्धारित हुई। ससंद में जनरल डायर व पंजाब के तत्कालीन ले.गवर्नर, ओडायर के प्रतिवेदन प्रस्तुत किए गए। जिनमें गोली चलाने को उचित ठहराया गया था। लिबरल सांसद जलियांवाला बाग नरसंहार से क्षुब्ध थे । सरकार की ओर से बहस में भागीदारी करते हुए मांटेग्यु चेम्सफोर्ड ने कहा कि सरकार ने पूरे मामले की जानकारी प्राप्त करने के बाद जनरल डायर के कृत्य को आवश्यकता से अधिक पाया और फौज से रिटायर्ड कर दिया। वे भारत छोड़कर लंदन में रहने लग गए हैं। सांसद कैनवर्फी ने डायर के कृत्य को कायरतापूर्ण नादिरशाही की संज्ञा दी। सांसद चर्चिल ने बड़ी गम्भीरता से कहा कि जनरल डायर को सेवामुक्त करना कोई सजा नहीं है। हिक्स ने कहा कि स्वर्ण मन्दिर के तरफ से डायर का शुक्रिया अदा किया गया और उसे सरोपा भेंट करने बारे भी संसद को बताया। बेन स्पुअर ने गवर्नर माईकल ओडवायर को जिम्मेवार मानते हुए वापिस बुलाने की मांग की। संसद में बहस के बाद मतदान करवाया गया। सिर्फ 29 सांसदों ने जनरल डायर व ओडायर के कार्यों का समर्थन किया जबकि 86 सांसदों ने इस कार्यवाही का समर्थन नहीं किया ।

हंटर कमीशन

स्थिति की गंभीरता को देखते हुए सरकार ने इस घटना की जांच के लिए एक आयोग का गठन किया। जिसके अध्यक्ष के तौर पर लार्ड हंटर को नियुक्त किया गया। जस्टिस रैकिन, जनरल वैरो, श्री चिमन लाल सीतलवाड़ और जगत नारायण को इनका सदस्य बनाया गया। हंटर कमीशन को रतनी देवी व अन्य लोगों ने अपने ब्यान दर्ज करवाए। 19 नवम्बर 1919 को डायर भी हंटर कमीशन के समक्ष पेश हुए। उसको देखते ही लोगों ने कहा कि यही है वह हत्यारा। डायर ने अपनी कार्यवाही को उचित बताया।

उधम सिंह का प्रतिज्ञा मिशन और क्रांतिकारी जीवन

उधम सिंह ने अपने एक संबंधी के मोटर गैराज में इस उद्देश्य से नौकरी कर ली कि वहां पर अंग्रेजों की गाड़ियां मुरम्मत के लिए आती थीं, तो इस रास्ते अंग्रेज तक पहुंच हो जाएगी और दुश्मनों को मार गिराऊंगा । इसके अलावा इस बहाने से मोटर चलाना भी सीख जाऊंगा व सारा दिन मोटर गैराज में अपने काम में व्यस्त रहता। कुछ ही समय में वह दक्ष कारीगर और कुशल मोटर चालक बन गया। मोटर गैराज में अधिकांश गाड़ियां मुरम्मत के लिए आर्मी से आती थी। उसकी कुछ अंग्रेजों से जान पहचान भी हो गई । एक दिन वह मोटर गैराज के मालिक के आदेश से वह एक फौज की टुकड़ी को लेकर गुजरानवाला कसूर लेकर गया वहां पर पंजाब के गवर्नर माईकल ओडायर के आदेश से फौज ने बेकसूर नागरिकों पर जहाज से बम गिराए। यह देखकर उधम सिंह को आत्मग्लानि हुई। उधम सिंह का क्रोध ओडायर पर और बढ़ गया। उसने गैराज की नौकरी छोड़ दी।

मोटर चालक की नौकरी

उधम सिंह ने सहारनपुर जाकर एक अंग्रेज के बतौर मोटर चालक की नौकरी कर ली। एक साल बीत गया मगर दुश्मनों तक पहुंच का कोई रास्ता ना खुला। वहां से नौकरी छोडकर फौजी छावनी में नौकरी कर ली। वहां भी उद्देश्य को सफल होता ना देख उन्होंने सहारनपुर के एक ताल्लुकदार के मोटर चालक की नौकरी कर ली। ताल्लुकदार शिकार के समय उधम सिंह को अपने साथ ले जाता। उधम सिंह ने ताल्लुकदार से प्रार्थना करके बंदूक चलाना सीख लिया। उधम सिंह ताल्लुकदार के विश्वसनीय नौकरों में से एक बन गया। वह ताल्लुकदार की बेटी व परिवार के अन्य सदस्यों को गाड़ी में बिठाकर घुमाने बाहर अन्दर ले जाने की जिम्मेवारी पूरी करने लगा। उधम सिंह की जवानी वा सुन्दरता को देखकर ताल्लुकदार की बेटी मन ही मन उसे प्रेम करने लगी। एक दिन वह उधम सिंह को हजरतगंज की सड़कों पर ले गई और चालक सीट के साथ वाली सीट पर बैठ गई और उसने अपने प्यार का इजहार उधम सिंह से किया और उधम सिंह का मन भी डोल गया वह सारी रात उसके स्पर्श व प्यार के बारे में सोचता रहा। लेकिन उसे अपनी प्रतिज्ञा याद आई और बिना ताल्लुकदार को बताए नौकरी छोड़कर चला गया।

वेटर की नौकरी

उधम सिंह को हर पल अपने मकसद की चितां सताए रहती। घूमते हुए वे लखनऊ पहुंच गया। एक दिन लखनऊ से ट्रक में बैठकर मेरठ पहुंच गए। भूख मिटाने के लिए एक साधारण होटल में पहुंचे। उसने सोचा कि स्वाधीनता की चिंगारी का अंकुर यहीं से फूटा था। यहां से जरूर कोई रास्ता मिलेगा। यह सोचकर उसने उसी होटल में वेटर की नौकरी कर ली।

उस समय उधम सिंह की उम्र कोई 23-24 वर्ष होगी। एक दिन दो युवा होटल पर आए वह एक कोने में रखी मेज

पर बैठ गए और जनरल डायर और माईकल ओडायर की बातें करने लगे। उनकी बातों से उधम सिंह को पता चला कि माईकल ओडायर सेवामुक्त होकर लंदन चले गए हैं और जनरल डायर लंदन में काफी बीमार चल रहे हैं। अब उधम सिंह के तीनों दुश्मन इंग्लैंड में चले गये। जिसको लेकर उधम सिंह काफी चिंतित हुए। उन्हें अमर शहीद मदन लाल ढ़ींगड़ा का साहसिक कारनामा स्मरण हुआ। किस तरह से मदन लाल ढींगरा ने लंदन के इम्पीरियल इंस्टीटयुट ऑफ सटैडिज के जहांगीर हाऊस में सर कर्जन वामली जो समारोह में अपनी पत्नी सहित उपस्थित थे के पास जाकर जेब से पिस्तौल निकाल कर चेहरे पर पांच गोलियां घुसेड़ दी थी। छठी गोली जब कावस खुर्शीद ने कर्जन को बचाने की कोशिश की तो उसे भी मार दिया ।

पंजाब वापसी

अपनी प्रतिज्ञा पूरी ना होते देख चिंतित उधम सिंह पंजाब वापिस आ गए । पंजाब के कई शहरों में घूमते हुए वह अपने गुरूदेव एंव अभिभावक पंडित जय चन्द शर्मा के पास पहुंचे उनसे अपनी लंदन यात्रा की इच्छा का उद्घाटन किया। शर्मा जी ने कहा कि लंदन जाने के लिए धन और अंग्रेजी बोलना आना चाहिए। उसके बाद उधम सिंह अमृतसर से लाहौर चले गए ।

दुकान

अमृतसर में उधम सिंह ने बढ़ई व लोहार का धंधा कर लिया और लंदन जाने के लिए धन संचित करने लगे। यह दुकान क्रांतिकारी गतिविधियों का केन्द्र बन गई।

डायर का निधन

एक रात को उधम सिंह ढंग से नहीं सो सके और बाहर आकर जमीन पर लेट गए और सुबह होते-होते उन्हें नींद आ गई और एक मित्र ने उन्हें आकर जगाया और बड़ी खुशी से समाचार दिया कि जलियावाला बाग का हत्यारा जनरल डायर सात साल की लम्बी बीमारी के बाद बिस्तर पर पड़े-पड़े मर गया । उधम सिंह को इस बात पर दुख हुआ कि उसे मारकर तो उसने अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी थी अब उसके दो दुश्मन माईकल ओडायर वा जैटलैण्ड जिंदा रह गए।

अमेरीका यात्रा: गदर आंदोलन और आजाद पार्टी

कुछ दिन बाद उधम सिंह ने इंग्लैंड जाने के लिए अमेरीका का रास्ता चुना। वह अमेरीका पहुंच गए जहां उन्होंने आजाद पार्टी का गठन किया। जिसकी सदस्य देखते-देखते ही बढ़ गई। इस संगठन का उद्देश्य अमेरीका में रह रहे भारतीयों के बीच आजादी का प्रचार करना और धन एकत्रित करना था। अमेरीका में रहकर वह स्थानीय राईफल क्लब के सदस्य बन गए और उत्कृष्ट कोटि के मार्कस मैन बन गए । गदर पार्टी के सदस्यों के साथ उनका संबंध स्थापित हुआ। वह भगत सिंह के विचारों से बहुत प्रभावित थे और उनको अपना क्रांतिकारी गुरू मानते थे।

गिरफ्तारी और चार साल की सजा

उधम सिंह जब भारत वापिस पहुंचे तो उनके पीछे भारत की खुफिया पुलिस लग गई। अन्ततः उन्हें रिवाल्वर व जिंदा कारतुसों के आरोप में शस्त्र संहिता का केस दर्ज करके गिरफ्तार कर लिया गया। उन पर दर्ज एफ आई आर में गदर पार्टी संबंधी साहित्य का जिक्र है। उन्हें इस केस में चार वर्ष की कठोर कारावास की सजा सुनाई गई। उन्हें खतरानामा अपराधी मानते हुए विशेष जेल में रखा गया। चार साल की सजा पूरी होने पर वह जेल से बाहर आए। उन्हें अपनी प्रतिज्ञा सताने लगी।

यशवन्त सिंह से मिलन

उधम सिंह से दिल्ली से अमृतसर की यात्रा कर रहे थे। रेलगाड़ी के उसी डिब्बे में एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति ने प्रवेश किया। उसने उधम सिंह से वार्तालाप शुरू कर दिया। जब उसने बताया कि वह अफ्रीका व अन्य देशों में लकड़ी का व्यापार करता है तो उधम सिंह के मन में भविष्य की किरण कौंध गई। उस आदमी का नाम यशवन्त सिंह था जो एक लकड़ी का बड़ा व्यापारी था जिसका व्यापार कई देशों में फैला हुआ था। जाते समय रेलवे स्टेशन अमृतसर पर उसने अपना एक परिचय कार्ड उधम सिंह को दिया। उसने उधम सिंह को बताया कि वह स्वर्ण मन्दिर के नजदीक एक हॉटल में रुकेगा। एक दिन यशवन्त सिंह ने उधम सिंह को कहा कि उसे अफ्रीका में काम के लिए किसी विश्वसनीय भारतीय की आवश्यकता है तो उधम सिंह ने इस काम को करने की इच्छा व्यक्त की। विदेश यात्रा से पहले अपने गुरूदेव एंव अभिभावक जयचन्द शर्मा से मिला और आशीर्वाद लिया।

अफ्रीका यात्रा

बम्बई जलयान से उधम सिंह व यशवन्त सिंह दक्षिण अफ्रीका के लिए प्रस्थान कर गए। विक्टोरिया जलयान पर कई दिन व रात बीत गए। इस दौरान उधम सिंह की जान पहचान अनेक यात्रियों से हुई। उनमें से कुछ क्रांतिकारी भी थे जो भारत की आजादी के लिए काम कर रहे थे। यात्रा के उपंरात जहाज मागाडिसू जलपोत पर रूका। सरदार यशवन्त सिंह को एक केबिन मिल गया। उधम सिंह को जनरल कम्पार्टमैन्ट में यात्रा करनी पड़ी। जलयान मोम्बासा होते हुए जंजवीर पहुंचा यहां से मोजेम्बीक होते हुए जहाज दक्षिण अफ्रीका के नेटाल पहुंचा।

नेटाल कांग्रेंस एसोसिएशन की सदस्यता

नेटाल में उधम सिंह का परिचय नेटाल कांग्रेस एसोसिएशन से हो गया। वह अपने काम में से समय निकालकर उनकी बैठकों में भाग लेने लगा। ऐसी ही क्रियाशीलता का एक कार्य था गुप्त रेडियो केन्द्र से प्रसारण। क्रांतिकारियों के विचारों का आदान-प्रदान इसी रेडियो स्टेशन से होता था। इस रेडियो स्टेशन के माध्यम से अफ्रीका व भारत के क्रांतिवीरों का आपस में मिलन होता था। इस रेडियो केन्द्र से अंग्रेज सरकार बहुत परेशान थी लेकिन उनको रेडियो केन्द्र नहीं मिल रहा था।

अमेरीका यात्रा

एक दिन यशवन्त सिंह ने अमेरीका जाने की योजना बनाई। अचानक यशवन्त सिंह की पत्नी की तबीयत खराब हो गई इसलिए उन्होंने उधम सिंह को अकेले भेज दिया। उधम सिंह ने सोचा कि उनकी प्रतिज्ञा का रास्ता शायद अमेरीका से ही होकर गुजरता हो। अमेरीका पहुंचकर अपने काम के साथ-साथ वह अमेरीका में क्रांतिकारियों द्वारा आयोजित बैठकों में हिस्सा लेता। इसी बीच यशवन्त सिंह ने किसी जरूरी काम से उधम सिंह को अफ्रीका वापिस बुला लिया। अफ्रीका की खुफिया पुलिस को पता लगा कि उधम सिंह नाम

का क्रांतिकारी दक्षिण अफ्रीका में प्रवास कर रह रहा है। उधम सिंह को अपनी प्रतिज्ञा याद आई उन्होंने दक्षिण अफ्रीका से अमृतसर वापसी कर ली। अमृतसर पहुंच अपना नाम डिसुजा रख लिया और कभी कभार वह राम मुहम्मद सिंह आजाद के नाम से भी अपना क्रांतिकारी काम करता।

यूरोप यात्रा

एक दिन उधम सिंह दुकान पर बैठा था। उसके पास एक व्यक्ति आया और उसने उधम सिंह को एक पासपोर्ट दिया जिस पर जर्मनी का वीजा लगा हुआ था और उसने बताया कि इसका पूरा खर्च मुझे यशवन्त सिंह साहब से मिल चुका है। उधम सिंह की खुशी का ठिकाना ना रहा। उसे अपनी प्रतिज्ञा पूरी होते दिख रही थी। उधम सिंह जर्मन पहुंच गए। कुछ दिन रुककर वहां से रूस चले गए ताकि इंग्लैंड का वीजा आसानी से मिल सके। रूस से वापिस आकर बर्लिन को अपना अस्थाई निवास बनाया। कुछ दिन बाद ब्रिटिश एम्बैंसी में इंग्लैंड जाने के लिए वीजा के लिए आवेदन किया। दूसरे दिन ऑल इंग्लैंड की मोहर के साथ पासपोर्ट मिल गया। उधम सिंह की खुशी का कोई ठिकाना ना रहा। लन्दन पहुंचकर उन्होंने एक इंजीनियरिंग कॉलेज में नाम लिखवा लिया। एक विद्यार्थी का जीवन जीने लगा। नाम रखा उदेय सिंह उर्फ उधम सिंह। अन्त में फ्रैंक वर्जिल फ्रांसिसी नागरिक बनकर समय बिताता रहा और उस घड़ी की तलाश करता रहा कि कब प्रतिज्ञा पूरी हो, जिसका संदेश पूरे विश्व में जाए।

फिल्मों में काम

उधम सिंह क्रांतिकारी दल गदर पार्टी के लिए धन संचय करते रहते थे और पार्टी को भेजते रहते थे। ब्रिटिश लेखक पोगर पैरकिन्ज ने अपनी पुस्तक अमृतसर लिगेसी 1989 में लिखा है कि उधम सिंह ने क्रांतिकारी आन्दोलन के लिए धन इकट्ठा करने के उद्दश्य से दो फिल्मों 'एलिफैन्ट बॉय' 1937 और 'द फोर फिदर्स' 1939 में काम किया। 'एलिफैन्ट बॉय' फिल्म 14 देशों में प्रसारित हुई।

प्रतिज्ञा की ओर

लंदन में उन दिनों शस्त्र रखने पर प्रतिबंध कम था। आसानी से एक पिस्तौल उधम सिंह को मिल गई। अभी भी उसके दो दुश्मन माईकल ओडायर व जैटलैन्ड जिंदा थे। समाचार पत्रों के माध्यम से उधम सिंह को पता चला कि कैक्सटन हाल लन्दन में रायल सेन्ट्रल ऐशियन सोसायटी और ईस्ट इंडिया एसोसिएशन सोसायटी द्वारा अफगानिस्तान के संबंध में एक सेमिनार का आयोजन किया गया है। जिसको लार्ड जैटलैन्ड और सर माईकल ओडायर सम्बोधित करेंगें। सर माईकल ओडायर पूर्वी देशों की राजनैतिक समस्याओं के विशेषज्ञ माने जाते थे। 13 मार्च 1940 को कैक्सटन हॉल में आशानुकूल भीड़ एकत्रित हो गई थी। नियत समय पर लार्ड जैटलैन्ड सर माईकल ओडायर और ब्रिगेडियर जनरल

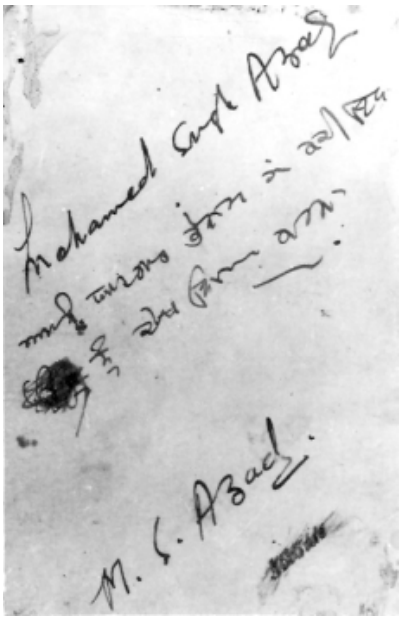

पी. सैक्स हॉल में उपस्थित हुए। उधम सिंह भी वकील की वेशभूषा में थे। सूट के ऊपर गाऊन और हाथों में मोटी-मोटी कानून की पुस्तकें। लगा कि वह सीधे कोर्ट से आए हैं। आगे से पांचवी पंक्ति में संयत मुद्रा में बैठ गए। हालांकि सुरक्षा की कड़ी व्यवस्था की गई थी। लार्ड सर जैटलैन्ड सेमिनार के अध्यक्ष थे। उन्होंने सेमिनार का विधि पूर्वक उद्घाटन किया। उसके बाद माईकल ओडायर ने अपना व्यख्यान दिया। व्याख्यान के बाद अग्रिम पंक्ति में जनरल पी सैक्स का धन्यवाद करके उनकी ओर मुड़े ही थे कि उधम सिंह ने किताबों के बीच से पिस्तौल निकालकर तीन गोलियां ओडायर के माथे और छाती में घुसेड़ दी । तत्पश्चात उनका निशाना बने लार्ड जैटलैन्ड, लार्ड लिमेंटन और सर ड्यूसन। जबकि पी सैक्स भीड़ में छुप गए। द्वार पर उनके सामने एक महिला खड़ी हो गई। उन्होंने पिस्तौल नीचे गिरा दिया और आत्म समर्पण कर दिया और पुलिस के साथ चले गए। ब्रिटिश पुलिस ने उधम सिंह को ब्रिकस्टन जेल में बन्द कर दिया।

जेल में उन्होंने क्रांताकारियों की जीवनियों के अलावा वारिश शाह रचित 'हीर', 'कुरान' व धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन किया। यहां पर उन्होंने अपने एक मित्र को पत्र लिखकर 23 मार्च को फांसी लगाए जाने की इच्छा जाहिर की क्योंकि भगत सिंह को भी 23 मार्च को फांसी दी गई थी।

31 मार्च 1940 को उन्होंने अपने मित्र शिव सिंह जोहल को पत्र लिखकर उनके द्वारा भेजी गई पुस्तकें वापिस की। इसी जेल में उन्होंने 42 दिन की भूख हड़ताल भी की। इस भूख हड़ताल को अंग्रेजों द्वारा जबरदस्ती तुड़वाया गया। बी.के. कृष्णमेनन एक प्रतिष्ठित अधिवक्ता के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। उन्होंने जेल में उधम सिंह से सम्पर्क किया और उधम सिंह के वकील बन गए। हालांकि उधम सिंह ने कहा कि उसने कोई गलत काम नहीं किया और न ही उसे इस बात का अफसोस है । मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया और उन्होंने श्री मेनन को आग्रह किया कि वह भारतीय बंधुओं को कहें कि उनको बचाने पर धन व्यय ना करें। इस धन को आजादी के आन्दोलन पर खर्च करें ।

ट्रायल

2 अप्रैल 1940 को उधम सिंह को लंदन की ओल्ड वेरी कोर्ट में न्यायमूर्ति सर सेरिल एटिकिन्सन की अदालत में पेश किया गया। यहां पर श्री वी.के. मेनन उनके पक्ष में बतौर वकील पेश हुए। उधम सिंह ने कहा कि वह अपनी अन्तिम बात कहना चाहते हैं इसकी अनुमति दी जाए। उन्होंने कहा कि मेरे जीवन का लक्ष्य क्रांति है। क्रांति जो हमारे देश को स्वतंत्रता दिला सके। मैं अपने देशवासियों को इस न्यायालय के माध्यम से यह संदेश देना चाहता हूं कि देशवासियों मैं तो शायद नहीं रहूंगा। लेकिन आप अपने देश के लिए अन्तिम सांस तक संघर्ष करना और अंग्रेजी शासन को समाप्त करना और ऐसी स्थिति पैदा करना कि भविष्य में कोई भी शक्ति हमारे देश को

गुलाम ना बना सके। इस पर जस्टिस एटिकिन्सन ने उन्हें टोकते हुए कहा कि वह उनका कोई राजनैतिक भाषण सुनने के लिए नहीं बैठे। इस पर उधम सिंह ने आठ पेजों पर लिखे अपने कथन को जज की तरफ फेंक दिया। कोर्ट के अधिकारी ने पढने के लिए उठाकर दिया। और सरकारी वकील जी.बी. मैकल्योर ने कहा कि अधीन धारा 6 ऑफएमरजैन्सी पॉवरज एक्ट के तहत उधम सिंह का भाषण किसी समाचार पत्र में नहीं छापा जा सकता।

जज ने पूछा कि रिपोर्ट में पुलिस ने तुम्हारे कई नाम लिखे हैं शेर सिंह उधम सिंह, राम मुहम्मद सिंह आजाद इस पर आपका क्या कहना है। उधम सिंह ने बड़े फख्र के साथ कहा कि सभी नाम उन्हीं के हैं लेकिन मेरा अन्तिम नाम राम मुहम्मद सिंह आजाद है। आपको आदेश पारित करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। उसके बाद उधम सिंह ने हिन्दुस्तान जिंदाबाद, ब्रिटिश साम्राज्यवाद का नाश हो, के नारे लगाए। बहस होने के बाद मृत्युदंड की सजा सुनाई गई और फांसी देने तक ब्रिक्सटन कारागार में रखने का आदेश दिया गया। उधम सिंह को फांसी के लिए ब्रिक्सटन जेल से पेन्टोन विले जेल में स्थानांतरित कर दिया गया। 31 जुलाई 1940 को उन्हें फांसी पर लटका दिया गया। फांसी के बाद उनका शरीर लंदन में ही कहीं दफ्न कर दिया गया। उधम सिंह फांसी लगने के बाद अमर शहीदों की श्रेणी में शामिल हो गए। उधम सिंह को फांसी दिए जाने पर पूरे भारतवर्ष में शोक की लहर दौड़ गई। जगह-जगह पर रैलियां, जुलूस निकले। 'द टाईम्स ऑफ लंदन' ने उन्हें आजादी का सिपाही कहा।

भारत में अस्थियां लाई गई

सन् 1974 में साधु सिंह थिन्द तत्कालीन एम.एल.ए. पंजाब लंदन गए और वहां से धरती से खोदकर उधम सिंह की अस्थियां भारत वापिस लेकर आए। तत्कालीन प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी, तत्कालीन राष्ट्रपति शंकर दयाल शर्मा और पंजाब के तत्कालीन मुख्यंमत्री ज्ञानी जैल सिंह ने अस्थि कलश को शिष्ट किया। तदोपंरात अस्थियों को उधम सिंह के जन्म स्थान सुनाम में लाया गया। शहीद उधम सिंह की इच्छानुसार अस्थियों को हिन्दू, मुस्लिम और सिख समुदायों के प्रतिनिधियों को दे दिया गया। हिन्दुओं ने अस्थि विसर्जन हरिद्वार में किया। मुसलमानों ने फतेहगढ़ मस्जिद में और सिखों ने करंत साहब में अन्त्येष्टि सम्पन्न की। ●●

सम्पर्क : 94162-71188

मनोज पवार 'मौजी' की रागनी

मेरी भोळी सूरत कांब गई, मैं छोड़ रै आपणी धीर गया
जलियांवाळे बाग का मंजर, मेरा काळजा चीर गया

दन-दनादन गोळी चाली, दुश्मन के औजारां तै
नर अर नारी भून दिए सब, गोळी की बौछारां तै
मौत का नंगा नाच करिणयो, कित रै थारा जमीर गया

कोए मर्‌या पड़्या, कोए डर्‌या पड़्या, कोए पड़्या-पड़्या रै लोच रह्या
कोए कुएं म्हं गिर्‌या पड़्या, कोए आपणे बाळक बोच रह्या
कोए खड़्या रै सोच रह्या, आज धरती पै तै सीर गया

हाथ पड़े किते पैर पड़ै, किते नाक, कान अर आंख पड़ी
याणे बाळक, बुढ्ढे, नारी, काया की दो फांक पड़ी
तन की कई छटांक पड़ी, टुकड़्यां म्हं खिंड्या शरीर गया

सोनू नैगल क्युकर गाऊं, मेरा गळा रूंध जावै सै
डायर की करतूत देख कै, 'मौजी' कलम चलावै सै
'माठड़े' के हिरदे तै दिखे, आर-पार यू तीर गया

2

भारत तै चल लंदन पोहंच्या, दिल भर रया इंतकाम का
दुनिया के म्हं रूक्का पाट्या, ऊधम सिंह तेरे नाम का

जलियांवाळे बाग की घटना, पूरी दिल पै ला ली रै
खून का बदला खून तै लेऊं, या ए कसम उठा ली रै
उस डायर नै छोडूं ना, जो मुजरिम कत्लेआम का
दुनिया के म्हं रूक्का पाट्या ....

याणी उम्र म्हं उधम सिंह नै, काम रै ठाड़ा हाथ लिया
दिल म्हं आग कसूती लागी, मिस मैरी नै साथ दिया
करकै खाया सदा सराया, हुनरमंद था काम का
दुनिया के म्हं रूक्का पाट्या ....

तेरां मार्च सन् चालीस नै, दिन खुशी का आया रै
कैक्स्टन हाल म्हं मारया डायर, फूल्या नहीं समाया रै
आग की ढ़ाळयां फैल गया यू, चर्चा काम तमाम का
दुनिया के म्हं रूक्का पाट्या ....

मास्टर मनोज नै तेरी शान मैं, सच्ची कलम चलाई रै
सोनू नैगल भर गीतां म्हं, दुनिया तै सुणाई रै
रमेश माठड़े चुका ना पावै, कर्जा तेरे श्यान का
दुनिया के म्हं रूक्का पाट्या ....

सम्पर्क : 98960-04688

संस्मरण

(3 अप्रैल 1958-18 जुलाई 2012)

ललित कार्तिकेय

एक अशांत अदीब की खामोश मौत

ज्ञान प्रकाश विवेक

ललित कार्तिकेय *का जन्म हरियाणा के सारन में हुआ। उन्होंने 'हिलियम', 'तलछट का कोरस', कहानी संग्रह, 'सामने का समय', आलोचना तथा देरिदा की 'स्पेक्टर्स ऑफ मार्क्स', सलमान रशदी के उपन्यास 'शरम' तथा शिव के. कुमार के उपन्यास 'तीन किनारों वाली नदी' का अनुवाद किया। वे हरियाणा प्रगतिशील लेखक संघ के सचिव रहे। 'अथ' पत्रिका का संपादन किया। सं.*

ललित कार्तिकेय इस दुनिया से कूच कर गया है। इतनी खामोश मौत कि हिन्दी अदब को पता ही न चला। पता चला तो रुक रुक कर। सहमी-सहमी आवाजों और सरगोशियों के साथ, ललित के कदीमी दोस्त, एक-दूसरे से फोन पर पूछते रहे, 'ललित?....ललित का कुछ पता चला?' क्या सचमुच ललित अब नहीं रहा?'

हिन्दी के दानिश्वर अदीबों के सवालों में सनसनी ज्यादा रहा करती है...जितनी सनसनी सवालों में, उतनी जवाबों में।

लेकिन ललित के बारे में जिस किसी रचनाकार/सम्पादक ने सवाल किया या जवाब दिया-सनसनी किसी के लहजे में नहीं थी।...अगर था तो अपराधबोध था कि हिन्दी अदब के एक बेहद प्रतिभाशाली और जीनियस नौजवान को शिकस्ताहाल छोड़ दिया गया। किसी ने सुध न ली।

ललित अब इस दुनिया में नहीं है। लेकिन एक अदद पश्चाताप की गठरी, उसके तमाम दोस्तों के पास है-जिसे न वो कहीं रख सकते हैं न छुपा सकते हैं।...क्या यह सच नहीं कि खामोश मौत मरने वाला ललित, हम सबके भीतर, एक विस्फोट छोड़ गया है।

विस्फोट पैदा करने की उसकी आदत थी। नहीं, आदत नहीं। शऊर था। उनींदा पड़े अदब में, अल्फाज के आफताब पैदा करना उसका लहजा था।

हिन्दी साहित्य में जब वो आया तो सरगर्मिए-हयात उसके साथ थी। उसकी ऊर्जा, उसकी चपलता, उसकी बेचैनी, उसके नए जाविए और उन्हें परखने की जिद सब देखने के काबिल था।

उसकी आबोताब, उसका ताप और उसकी आक्रामकता जितनी दिलचस्प थी, उतना हौल भी पैदा करती थी। मैं अक्सर उसे गालिब का मिसरा सुनाता-उसकी शख्सियत को नजर करते हुए -'जो आंख ही से न टपका, तो वो लहू क्या है?' वो मुस्करा पड़ता। उसकी आंखें ज्यादा मुस्करातीं। उसकी आंखों में शैतान किस्म की मुस्कान तैरती रहती थी। मंजर दूसरा भी हो सकता था-अजीब किस्म का आक्रोश, छटपटाहट और बेकरारी भी उसके चेहरे पर नुमायां हो जाती थी, लेकिन उसके सांवले, सख्त और दड़ियल चेहरे का सामना कर पाना सबके बस की बात नहीं थी। आपने उसे देखा और उसने आपकी खिल्ली उड़ाई! आप भौंचक! वो सहज! आप नाराज! वो इत्मीनान में। वो इतनी सुविधा किसी को नहीं देता था कि कोई उस पर हावी हो। इतनी इजाजत भी वो किसी को नहीं देता था कि कोई उसका अंतरंग हो। ऐसा नहीं कि वो ठस्स और बेहिस किस्म का इंसान था। उसमें रगबत थी। वो रिश्ते बनाना जानता था। और रिश्ते तोड़ना भी जानता था। उसकी पसंद और नापसंद, एक ऐसा बीहड़ थी, जिसमें घुसना मुश्किल था और ललित के उस बीहड़ को समझना और भी मुश्किल! हिन्दी साहित्य में एक अकेला ललित था...बाकमाल! जो अपने अंदर कई सारी शख्सियतें लिए फिरता था।

हिन्दी साहित्य में ललित किसी जुनून की तरह प्रविष्ट हुआ...और जाती दफा दश्त की अजहद खामोशियां बिछाकर चला गया।

आठवें-नौवें दशक में, हिन्दी साहित्य को नए सिरे से महसूस करने, अपनी जिद्द, अपनी अवधारणाओं से हलचल-सी पैदा करने वाला ललित, बाद वक्तों में इतना खामोश और इतना अकेला और इतना गुमनाम हो जाएगा किसी ने सोचा तक न था। खुद, उसे भी पता नहीं था कि अपने शऊर और अपनी प्रतिभा के जरिए, हिन्दी अदब में खलबली मचाने वाला, अदब की दुनिया से खुद को बेदखल कर देगा...इतना बेदखल कि हिन्दी साहित्य से उसे चिढ़ होने लगेगी। हिन्दी के साहित्यकार उसे खोखले, कमजोर और जाहिल नजर आने लगेंगे।

ललित बेहद जटिल चरित्र था। उसे दूसरे तो क्या समझते, वो अपने-आपको समझने में भी असमर्थ रहा। कहा करता था - शरण मेरी हिन्दी साहित्य में ही है। लेकिन अपने इस अहसास को भी एक जुमले में बदलता रहा। और अदब की दुनिया से खुद को दूर करता गया।

विस्मृति के इस भयानक समय में

भी लोग ललित को भूले नहीं थे। वो हम सब में इतना विरल, इतना विकट, इतना मौलिक, इतना संशलिष्ट और इतना बेबाक था कि उसे भूल पाना आसान भी कहां था? यार दोस्त मिलते तो पूछते - ललित कहां है? यह सवाल ही इस बात का सबूत था कि ललित हर अदबशनास के दिल में, कहीं-न-कहीं अपनी जगह बनाए हुए था।

जगह अब भी होगी...उसकी स्मृति की हल्की सी गूंज...उसके न होने की पीड़ा के साथ, अब भी होगी उन तमाम रचनाकार दोस्तों के दिल में...जिनसे वो शराब के गिलास टकराता...जिनसे लड़ भी पड़ता।

पहली बार हम सोनीपत में मिले। 'अथ' पत्रिका की गोष्ठी में। ललित वहां पढ़ाई पूरी कर चुका था या शायद उसकी पढ़ाई का आखरी साल था। यह बात 1982-1983 की है। अपने कालेज के दौरान वो अपनी तेज तर्रार छवि के लिए जाना जाता था। उसके इशारों पर स्टूडेंटस स्ट्राइक कर सकते थे और उसके इशारों पर अपने क्लास रूम में लौट भी सकते थे। स्टूडेंटस यूनियन का वो सरकरदा था। उसकी विश्वसनीयता थी और वो अपने अल्फाज की ताकत जानता था। अल्फाज की फिजूलखर्ची से वो चिढ़ता था और बाद में भी उसका सारा लेखन किफायतशार लेखक का रहा।

'अथ' पत्रिका के बेशक छह-सात अंक निकले, लेकिन बतौर सम्पादक, रचनाकार और अनुवादक उसने अपनी खासी शिनाख्त करा दी थी। तरक्कीपसंद लेखक में जो गुण (और अवगुण) होते हैं वो सब उसमें मौजूद थे। उसमें तीखापन था। समझ थी। उसमें जिज्ञासाएं थी। स्टूडेंटस यूनियन वाली आक्रामकता और अपनी बात से सबको कायल करने की तौफीक भी थी।

तब मेरा दफ्तर गोल मार्किट के पास जैन भवन में था। कभी-कभी ललित वहां आ जाता। कभी अकेले, कभी ज्योति के साथ। महानगरीय छलकपट और बनावट से बहुत दूर! ललित, तब जोशो-खरोश और लेखकीय ताप के साथ उपस्थित होता। वो बीड़ी के सुट्टे मारता। हमारी बातचीत बेहद खुशगवार माहौल में होती। हम बहस भी करते। लेकिन बहस का आखिरी सिरा उसके हाथ में होता। वो अपने लेख दिखाता। ज्योति अंग्रेजी से अनुवाद करती। वो दोनों युवा रचनाकार, हिन्दी साहित्य में दाखिल हो रहे थे। उन दिनों ललित का पुराना और अभिन्न दोस्त अरविन्द जैन भी था। बाद में अरविन्द जैन सुप्रीम कोर्ट का वकील बना और ललित ने वल्लभगढ़ के अग्रवाल कालेज में प्राध्यापक के रूप में ज्वाइन किया।...ज्योति से उसने विवाह किया। सीधा-सादा विवाह और सीधा-सादा जीवन शिल्प!...बहसें। लिखना और अच्छा सोचना।

ललित और ज्योति वैवाहिक जीवन के बाद भी मेरे दफ्तर आते रहे। वो दोनों शानदार लगते। बिल्कुल साधारण कपड़ों में वो दोनों। असाधारण वैचारिक ऊर्जा से लबरेज। ललित बेबाक। ज्योति संकोची और कम बोलने वाली। तब हम सिर्फ चाय पीते। ललित चाय के साथ बीड़ी भी पीता।

इसके बाद। मेरी ट्रांसफर आसफ अली रोड के दफ्तर में हो गई। ललित से मिलना कम हो गया। इस बीच उसने अपनी उपस्थिति 'हंस' में बनाई। तब 'हंस' की अपनी साख थी और पत्रिका के संपादक राजेंद्र यादव का अपना जलवा था। लेखक, 'हंस' के दफ्तर में बा-अदब दाखिल होते। ललित कार्तिकेय अपनी धमक, अपनी धज और अपने बेलिहाज लहजे के साथ प्रविष्ठ होता। राजेंद्र यादव, ललित से बेहद मुत्असिर हुए। हंस। आबनुसीरंगत की बड़ी-सी मेज के आमने-सामने दो अदीब! एक बूढ़ा संपादक। एक नौजवान कथाकार। दो प्रतिभाएं। एक के पास अनुभवों का जखीरा। दूसरे के पास कुछ कर गुजरने का वलवला। अदब में छा जाने की महत्वाकांक्षा!..और ललित!...अपनी रचनात्मकता को गर्वीली स्वीकृति दिलाने वाला मुसन्निफ!...लेखक!

अदब की आंधियों की हैसियत दूसरी तरह की होती है। वो अल्फाज के चरागों को रोशनी करती हैं और ललित उस आंधी की ही तरह था। 1987-88 के बाद का दौर था - 'हीलियम', 'हौवा', 'एक कलावादी की फुसफुसी ट्रेजडी' जैसी कहानियों ने नई बहस पैदा की। लेकिन सबसे ज्यादा हैरान किया ललित की 'तलछट का कोरस' कहानी ने। अगर हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों के उसलूब (शिल्प) पर कभी चर्चा हुई तो यकीनन ललित की 'तलछट का कोरस' उसमें शामिल होगी। जिस फक्कड़ और बिन्दासपन के साथ पुराने मूल्यों के परखच्चे उड़ाती कहानी ललित ने लिखी है, कहानी को नए अनुभवों से जिन्दगी की ताजगी बख्शी है, वो एक मिसाल है। ललित की सभी शानदार कहानियां 'हंस' में प्रकाशित हुई और फिर वो आधार प्रकाशन से 1994 में 'तलछट का कोरस' नाम से पुस्तक रूप में छपकर आई।

इसे विडम्बना कहें या अफसोस, ललित वैसी कहानियां फिर कभी न लिख सका। अगर रचनाकार अपना श्रेष्ठ सबसे पहले लिख देता है, तो फिर यह दिक्कत पेश आती है। 'तलछट का कोरस' ललित के लिए हमेशा चुनौती की तरह रहा। लेकिन लेखकीय समझदारी उसमें खूब थी। वो आलोचना की तरफ चला गया और सांस्कृतिक/वैचारिक लेख भी लिखने लगा।

लेखकीय समझ उसमें बेशक बहुत-खूब थी, जिन्दगी जीने की समझ उतनी ही कम। न दुनियादारी न व्यवहारिकता! इसी के चलते उसका डोरोथी (जिसे वो ज्योति कहता था और अपना कहानी संग्रह भी उसने डोरोथी को समर्पित किया था।) मनमुटाव और संबंधों में बिखराव इस हद तक कि दोनों अलग हो गए।

कुरुक्षेत्र में इसी दौरान कहानी पर गोष्ठी थी। मैं वहां था। शाम के वक्त किसी कथाकार ने फब्ती-सी कसते हुए मुझसे पूछा था-'और भई, ललित का अपनी पत्नी से झगड़ा चल रहा है क्या?' कथाकार का यह मखौल मुझे नागवार गुजरा। संबंधों में तकरार हो तो हम तनाव में रहते हैं और इस तनाव का हमारे कथाकार दोस्त मजाक उड़ाएं, मैंने बड़ी तल्खी से जवाब दिया, 'हम यहां किसी दोस्त के वैवाहिक जीवन को बेपर्दा करने नहीं आए। आप अपनी कमजोर कहानियों तक महदूद रहें तो बेहतर है।'

ये बात मैंने ललित को नहीं बताई थी। लेकिन ललित तक पहुंच गई थी। वो मेरे दफ्तर आया। उसने कहा, 'ज्ञान, मैं तुझ पर भरोसा करता हूं।'

भरोसा शब्द मामूली शब्द नहीं। इस लफ्ज का हम दोनों ने खैरमकदम किया और हमने पी। वो बहुत अरसे बाद मिला था। इस बीच मेरा दफ्तर जनपथ ट्रांसफर हो चुका था। ललित के लिए यहां पहुंचना आसान था। इन दिनों वो तनाव में था। मेरे पास आना उसे अच्छा लगता था। शायद

इसलिए भी कि मैं उसे कुरेदता नहीं था। वो कहता भी था कि मेरे पास आकर उसे राहत मिलती है। उन दिनों वो 'हंस' के दफ्तर जाया करता था। अरविन्द से भी अक्सर मिलता। वो समीक्षाएं लिखने लगा था और समीक्षा केवल समीक्षा नहीं होती थी। वहां एक युवा, प्रखर, पैनी दृष्टिवाला, प्रतिभाशाली आलोचक मौजूद था। ये अलग बात है कि जितना दुरूह उसका अपना व्यक्तित्व था उतनी जटिल उसकी आलोचना!

उसके साहित्यिक कामों के पसमंजर हमेशा चैलेंज पिन्हा होते थे। समीक्षा/आलोचना के वक्त उसने आजमूदा, भोथेरे टूल्ज बदलकर रख दिए। आलोचना बेशक दुरूह होती, लेकिन होती ताजादम!...'हंस', 'कथादेश' और 'जनसत्ता' के लिए वो निरंतर लिखता रहा। वो जितना मसरूफ होता, उतना सुकूनयाफ्ता! हर मुश्किल किताब उसे आह्लादित करती। वो चहक उठता। अपनी लिखी हुई चीजें दिखाता। जब खुश होता या मेरी खुश्की उड़ाने के मूड में होता तो मुझे 'ज्ञान बाबू' कहता। मैं हंसता। तो वो संजीदा। उसका पार पाना मुश्किल था। कभी वो खूब सारा हंसता। उसकी आंखें थोड़ी मिच जातीं। वो अपने घने काले (और कुछ सफेद) बालों में उंगलियां घुमाता। सिर झटकता। ये उसकी अदाएं थीं-एक नौजवान मुसन्निफ (लेखक) की अदाएं। जो जितना जटिल था उतना मासूम!

कई बार आकर बैठता। कहता, 'चल उठ, मुझे कमीजें लेनी हैं। मुझे पता नहीं चलता।'

दुनियावी मामलों में वो इतना मासूम था कि जुराबें तक उससे नहीं खरीदी जाती थीं। तब हम दोनों कनाट प्लेस में घूमते। 'जानकीदास' से जुराबें खरीदते। एक क्वार्टर वोदका और बिसलरी का पानी! मैं उसका थोड़ा-सा साथ निभाता। मुझे दफ्तर में बैठना होता। हमारी इस मामले में अच्छी अंडरस्टेंडिंग थी। कभी-कभी यह अंडरस्टेंडिंग बिगड़ भी जाती।

हिन्दी साहित्य से रफ्ता-रफ्ता दूर हो जाने वाला ललित जब साहित्य में था तो हिन्दी साहित्य उसके भीतर खून की तरह दौड़ता था। देरिदा और ऐजाज अहमद के लेखों के अनुवाद करते समय उसके पसीने छूट गए। बहुत दिन भी खर्च हुए। लेकिन वो था बहुत प्रफुल्लित! उन दिनों कुरियर सेवाएं कम थीं और देरिदा का अनुवाद उसे ज्ञानरंजन को 'पहल' के लिए भेजना था। हमने अंतरिक्ष भवन के बेसमेंट में कुरियर दफ्तर ढूंढा और वो डिस्पैच रवाना किया।

ललित का व्यक्तित्व बेहद जटिल था। एक बीहड़ था उसमें तो एक बंजर भी था। एक उजाड़ भी था। उस उजाड़ को वो कभी जाहिर नहीं होने देता था। अपनी आक्रामकता से अपने दुख, तनाव, कष्ट और अकेलेपन को छुपा लेता था।

एक दिन वो सुबह मेरे दफ्तर आ गया। साढ़े दस या ग्यारह बजे। वो सर्दियों के दिन थे। बहुत साल हो चुके हैं इस बात को। कुर्सी पर बैठते ही उसने कहा, 'ज्ञान, मुझे रोना है।'

मैं उसकी बात से भौंचक रह गया।

हमारा दफ्तर तीसरी मंजिल पर था और छत की चाबी कुछेक लोगों को मिल सकती थी। मैं भी उनमें से था। मैंने नीचे जाकर चाबी ली। ललित को दफ्तर की छत पर ले आया। वो देर तक आंसू बहाता रहा। मैं देखता रहा। वो बहुत रो चुका, तो मैं उसके लिए पानी और चाय ले आया।

ललित का यह रूप भी था-आक्रामक छवि के विपरीत, बेहद भावुक!

फिर कुछ साल वो मिला ही नहीं। न फोन न मिला। इस बीच उसका छपना-छपाना भी कम ही रहा।

फिर अचानक एक दिन वो दफ्तर आया। उसने चौंकाया, 'ज्ञान, मैंने शादी कर ली है।'

मैं खुश हुआ। हाथ मिलाया। बधाई दी।

उसने अपनी पत्नी का नाम बताया-इंदिराजी। हमने 'वोल्गा' में बीयर पी।

ललित के ये खूबसूरत दिन थे। वो खुश होता। खूब लिखता। लिख चुकने के बाद, वोल्गा में बीयर! वोल्गा, कनाट प्लेस का ऐसा बार-रेस्तरां था, जहां के वेटर बहुत पुराने थे। रेस्तरां कदीमी और अधेड़ वेटर! वो बाअदब, झुककर बीयर को गिलास में भरते। बड़ी शाइस्तगी से बात करते। आर्डर लेते। वोल्गा दोपहर को भरा रहता। कैरीवैली का सेक्सोफोन (सीडी का संगीत) वातावरण को पुरलत्फ बनाता।

अब वोल्गा बंद हो चुका है।

अब ललित भी इस संसार में नहीं रहा।

इंदिरा जी से विवाह के बाद ललित गोल मार्किट के पास इंदिरा जी के फ्लैट में रहने लगा था।

इस बीच उसकी वैचारिक लेखों की एक किताब आई 'सामने का समय'। किताब के लेख पढ़े तो ललित अपने समय से किस तरह वैचारिक मुठभेड़ करता है, उसका बोध, उसका अहसास इस किताब से होता है। किताब की पांडुलिपि तैयार करने में उसने अपनी 'जीवन संगिनी इंदिरा' का आभार व्यक्त किया है। 'कथादेश' के सम्पादक हरिनारायण के प्रति कृतज्ञता जाहिर की है। यह थोड़ा चौंकाती भी है। इसलिए कि वो किसी के प्रति कृतज्ञ होता ही नहीं था। ललित की फितरत में हासिल करना तो था, 'देना' नहीं था।

अपने-आपको लिखने की दुनिया से बाहर कर देने वाला ललित, अपने एक लेख में, उन लोगों का मखौल उड़ाता प्रतीत होता है जो कहा करते हैं - लिखने से क्या हो जाएगा?...फिर वो (ललित) प्रबल भावना के साथ यह भी कहता है 'जैसे महसूस करना, सोचना, कहना, मनुष्यता की निशानी है, वैसी ही सुंदरता की रचना करना भी मनुष्यता की जरूरी पहचान है। लिखने में ये दोनों ही बातें शामिल हैं। लिखने से कुछ होगा या नहीं, यह फालतू का सवाल है।

लिखने की जस्रत पर बल देने वाला ललित, धीरे-धीरे खुद उसी सवाल के जंजाल में फंसता चला गया कि लिखने से क्या होगा?

फिर भी वो लिखता रहा-कभी मन से, कभी उक्ताए हुए लहजे में।

2003 के बाद वो एन.जी.ओ. के लिए अनुवाद करने लगा। उसका नजरिया, सोच, उसका शऊर तक बदलने लगा। वो अपने कालेज से वापिस आता। छोटा-सा कमरा। किताबों कागजों से अटा, मेज भी भरी-भरी। उस पर कम्प्यूटर। स्टैंड पर कागज या वो किताब, जिसका उसने अनुवाद करना होता। कभी वो चाय पीने के बाद काम शुरू कर देगा तो कभी पैग तैयार करता।

मैं बहुत बार उसके घर में आता। हिन्दी का तरक्कीपसंद, जहीन-तरीन, कथाकार, आलोचक और कवि! एन.जी.ओ. के अनुवाद में व्यस्त होता और मग्न भी!...मैं उसे देखकर मलाल में होता, लेकिन वो

खुश नजर आता!

मैं उसे देखता रहता और वो दिन याद करता जब वो सलमान रशदी के उपन्यास 'शेम' का अनुवाद कर रहा था। उस अनुवाद के पीछे क्या लगन और क्या जज्बा था। तब वो आधे-एक घंटे में दो-तीन बार फोन करता। वो उर्दू के लफ्ज पूछता। अंग्रेजी का तजुर्मा करते हुए ललित पाठकों को (और खुद को) यह अहसास दिलाना चाहता था कि रश्दी अगर उर्दू में लिखते, तो 'ऐसे ही' लिखते। वो फोन पर पैरा पढ़ता। रवानी देखता। शब्दों के अर्थ पूछता। बेशक, उसके पास हिन्दी-उर्दू की डिक्शनरी भी थी, लेकिन वो शब्दों के अर्थ मुझ से पूछता रहता। आश्वस्त होता। दफ्तर आता तो पेज-दर-पेज पढ़कर सुनाता।

पाठक अगर ललित कार्तिकेय के अनुवाद किए गए उपन्यास 'शरम' (प्रकाशक वाणी प्रकाशन) पढ़ें तो यकीनन, ललित की नई भाषा शैली और उसके मिजाज से तअरूफ होगा। कलिष्ठ हिन्दी लिखनेवाला ललित, ऐसी उर्दू जबान भी अनुवाद में 'क्रिएट' कर सकता था।

ललित ने 1995 से 2001 तक अपनी दो पांडुलिपियां भी तैयार कीं-कविता संग्रह और आलोचना! पांडुलिपियां उसने एक प्रकाशक को भेजी थीं। बाद में पता नहीं उनका क्या हुआ?

2003 में मेरी ट्रांसफर गुड़गांव हो गई। ललित से मिलना कम हो गया। कभी-कभार हम मिलते, तो वह कह भी देता-ज्ञान, तेरी ट्रांसफर ने मेरा एक ठिकाना (86-जनपथ) छीन लिया।

धीरे-धीरे वो पूरी तरह एन.जी.ओ. को समर्पित हो गया। वहां पैसा था, यश बिल्कुल नहीं था। हिन्दी में यश था (या नहीं था) पैसा तो बहुत कम था। ललित में पैसा कमाने का हिर्स पैदा हो गया था। उसकी छोटी-सी बिटिया भी थी। कहता था कि इसे बहुत अच्छे स्कूल में पढ़ाऊंगा। बहुत अच्छा स्कूल, बहुत अच्छी फीस!

मुझे याद है जब हम शिवाजी स्टेडियम के बस टर्मिनल की पटरियों पर बैठकर, फक्कड़ अंदाज में पी रहे होते, तब हम पैसा कमाने वाले लोगों का खूब मजाक उड़ाते। वो हमें चलती फिरती मशीनें लगते या फिर टकसाल!

ललित खुद उसी रास्ते पर चल निकला था। कम्प्यूटर के सामने बैठकर तर्जुमा करता। ललित खुद भी किसी कम्प्यूटर जैसा प्रतीत होता।

रिश्तों को लंबे समय तक निभाना शायद उसकी फितरत में नहीं था। यही वजह थी कि इंदिरा जी से भी उसका रिश्ता सौहार्द्रपूर्ण नहीं रहा था, वो तल्खी और कशमकश में बदल गया था। इंदिरा जी उसके पीने पर रोक लगाना चाहती थीं। लेकिन ललित को यह बर्दाश्त नहीं था।

ललित जब होता, जहां हांता, सौ फीसदी होता। जब आलोचना करता, तो वो भी सौ फीसदी-पक्षपात रहित! खेमे, बिरदारी और समझौतों पर टिकी हिन्दी आलोचना को उसने चेहरा दिखा दिया था। उसने अदबशनासों को अहसास करा दिया कि उनके कदीमी नजरिए और बूढ़ी जबान थक चुकी है। उसने नया उसलूब पैदा किया और तनकीद को भी नयापन दिया।

ललित ने इंटरव्यू भी लिए-पांच या छह! लेकिन वो इंटरव्यू भी 'बड़ी रचनाएं' बन गए। मंगलेश डबराल का इंटरव्यू करते हुए वो बेहद खुश नजर आया।

ललित जब लेखक था तो एक मुकम्मल लेखक! और जब अनुवाद करने लगा तो वो पूरा अनुवादक हो गया। हिन्दी साहित्य से विरक्ति और हिन्दी लेखकों पर फब्ती। नतीजा? हिन्दी के साहित्यकार उससे किनारा करते चलते गए। वजह माकूल थी। ड्रिंक्स का आरंभ खुशगवार माहौल में होता और तल्खी में। ललित की तल्खी और आक्रामकता को पहले प्रायः सब लेखक झेल पाते। सहन कर लेते। बाद में संबंध कशीदा होते गए। दोस्त कम मिलते या न भी मिलते। ललित ने पहले अपना एकांत चुना और बाद में वो एकांत अकेलेपन में बदलता गया। उसके अहंकार ने भी उसे अकेलापन ही दिया और दोस्त छीन लिए।

'सामने का समय' किताब के एक लेख में वो लिखता है-'मुझे निजी तौर पर किताबों के साथ रहने और लिखने के सिवा कोई रास्ता नहीं मिलता। लेकिन उसकी अपर्याप्तता समझ आती है। लगता है, आसपास कुछ संगी साथियों का होना जरूरी है जो आपकी सृजनात्मकता को नैरन्तर्य देते रह सकें, जिनकी मौजूदगी आपको एक विचारोत्तेजना देती रहे। आपको आपकी बौद्धिक और भावनात्मक कैदों से मुक्ति दिलाती रहे।'

अफसोस इस बात का है कि बौद्धिक कैद से वो पहले मुक्त न हो सका और भावनात्मक कैद...उसका पैदा किया गया अकेलापन...उससे भी वो कभी रिहा न हो पाया।

हिन्दी साहित्य जैसा भी है (ललित के मुताबिक भौंथरा) वो रचनाकारों को अकेला तो नहीं होने देता। वो रचनाकारों में तपिश पैदा किए रखता है। वो दोस्त छीनता है तो दोस्ता देता भी है।...नशिस्तों में अदीब, सुनने सुनाने कम आते हैं। असल मकसद दोस्तों से मिलने-मिलाने का भी होता है। रचनाकारों के अंदर का अकेलापन, ऐसे माहौल और बज्म में खींच लाता है।

ललित इस बात को बेशक जानता था, लेकिन उसकी बौद्धिकता (जो बाद में महानता का प्रपंच बनके रह गई) उसे रोक लेती थी।...हिन्दी साहित्य का बरक्स, उसने अपना एक प्रति संसार रच लिया था।

मैंने एक दिन उसे वापिस हिन्दी साहित्य में लौट आने के लिए कहा तो वो बड़ी तल्खी से बोला, 'क्यों लिखूं?' किसके लिए लिखूं?'

मैंने फिर कहा, 'ललित, वहां...हिन्दी साहित्य में जीवन है। 'इस अनुवाद में यांत्रिकता है।'

'दिमाग खराब मत कर। तू जा।' उसने कहा।

मैं कुछ देर उसके कमरे में बैठा रहा चुपचाप। फिर उठकर चला आया। वो कुर्सी पर बैठा पीता रहा।

उसके मन की कशमकश का पता इस बात से भी चलता था कि 'टाइम्स ऑफ इंडिया' अखबार मेज के कोने में, मेज के पाये के पास बिखरे पड़े थे। वो रबड़ बैंड में लिपटे थे। उन्हे खोला तक नहीं गया था।

ललित के भीतर पल रहे उजाड़ पर गौर करें, तो हौल-सा उठता है। उसका आत्मनिर्वासन कितने सारे सवाल पैदा करता है? क्यों चुना उसने यह निर्वासन? कौन चुनता है ऐसी दश्ते-तन्हाई, जहां अपनी आवाज भी पलटकर न आए और आए तो वो सिसकती हुई-सी महसूस हो।

ललित अब इस दुनिया में नहीं रहा। उसकी मौत भी सवाल पैदा करती है - क्या वो अकेला मरा है? नहीं जनाब! वो हम सब की जिंदगी के छोटे-छोटे टुकड़े भी साथ लेकर मरा है।●●

सम्पर्क - 9813491654

कहानी

हीलियम

ललित कार्तिकेय

छोटे कद, सांवली रंगत और पेज कट बालों वाली उस लड़की में सेवेन्टी एमएम दिमाग था और दिमाग में ईस्टमैन कलर का एक सपना! सपना कोई स्थिर चित्र नहीं था कि वह खुद या कोई और उसे अंतिम रूप से एक ही बार में बयान कर सकता। वो एक फिल्म की मानिंद था- बहते हुए दृश्य, एक के बाद एक होती घटनाएं। इस स्वप्न-प्रवाह का कोई अंत नहीं था। इसमें रोज कुछ दृश्यों और घटनाओं, पात्रों और संवादों का इजाफा होता जाता। वह पुराने दृश्यों के डिटेल्स बदल कर, पात्रों के हेयर स्टाइल और पहरावे इत्यादि में तबदीलियां कर उन्हें लगातार 'अप-टू-डेट' करती रहती।

हां, मुख्य पात्र फाइनल हो चुके थे। यह वह खुद, दूसरा उसका नायक - सफेद दूधियां दांतों, चमकीली आंखों वाला एक लंबा, आकर्षक पुरुष। यूं वह उस पुरुष का नाम-पता पक्के तौर पर नहीं जानती थी। अनेक रूपों में अनेक जगह उसे दिखता रहा था - कभी सूटिंग-शर्टिंग के विज्ञापनों में, कभी कनाट प्लेस के बरामदों में, कभी उन नए बसते 'विहारों' में जहां वह ट्यूशनें पढ़ाने जाया करती थी। एक दफा कुवैत से आए किसी रिश्तेदार-परिवार के साथ घूमने के लिए वह सांझ को इंडिया-गेट गई थी तो वह उसे सर्दियों की धुंध और उतरती रात के सांवलेपन में लिपटा कई बार दिखाई पड़ा था - किसी पेड़ के नीचे जाने किसके साथ सट कर बैठा हुआ, किसी के हाथ में हाथ डाले सड़क के इर्द-गिर्द की धुंधली, पीली रोशनी से लॉन्स के अंधेरे की ओर सधे कदमों से बढ़ता हुआ, जानें किसकी कमर को अपनी बांह से घेरे अंधेरे की चट्टान से बाहर निकल सड़क की रोशनी के मटमैले, निस्पंद पोखर में उतरता हुआ...

उम्र के किस मोड़ पर कैसे इस सपने का मुहूर्त हुआ था - लड़की को नहीं मालूम। जानें कितने बरसों से वह इस पुरुष और अपने चारों ओर जलती-बुझती, रंग-बिरंगी नियोन-लाइटों-सी रहस्यमय, झिलमिल दुनिया रचती रही थी। उसे कहीं कोई दृश्य भा जाता, कोई स्थिति पसंद आ जाती, कोई चीज रच जाती, तो पता नहीं कब अपने-आप उस दुनिया में शामिल हो जाती। वह कब इस दुनिया के भीतर होती, कब बाहर-कह पाना मुश्किल है। शायद वह एक साथ बाहर भी होती और भीतर भी।

टिन...इंग! शाम को पुरुष अपने काम से घर लौटा है। वह कभी डॉक्टर होता, कभी इलैक्ट्रोनिक्स इंजीनियर, कभी फ्लाइट लेफ्टीनेंट, कभी मैनेजर, कभी आईएएस आफिसर...कभी-कभी बिजनेसमेन।...उसके गोरे, ग्रीक चेहरे पर हल्की सी थकान है, लाल होठों पर धुली-सफेद मुस्कान, चौड़े माथे पर झूलती हुई नरम बालों की एक काली लट। लड़की बड़े मोहक अंदाज में चाय लाती है। सपने में ट्रे, क्राकरी, चाय का ब्राण्ड, पर्दे, पेंटिंग्स, मेज, सोफा, टीवी, एयर कन्डीश्नर, वीडियो, स्टीरियो बदलते रहते थे - लड़की के इन चीजों से संबंधित ज्ञान के बढ़ते जाने के साथ-साथ। पुरुष मुग्ध-सा उसकी ओर देखता हुआ उठता है, उसकी आंखों में शरारत भरी है, वह टाई की नॉट ढीली करता है, लड़की को अपनी बांहों में उठा कई बार एड़ियों पर घूम जाता है, वे दोनों खिलखिलाते हुए गुदगुदे पर्शियन कालीन में ढेर हो जाते हैं। टिन्-न-ई ग!!

ट्रिन ईग! वे दोनों अपनी नई मारूति में शापिंग करने निकले हैं। पुरुष की कद-काठी, वेश-भूषा, चेहरे और आंखों में दपदपाता रौब-दाब देख कीड़े-मकोड़ों-सी खदबदाती भीड़ रास्ता छोड़ती जाती है। वह उसकी छाया में सॉफ्टी कुतरती एक जगमग स्टोर से निकल दूसरे, फिर तीसरे...में घुसती चली जाती है, एक-एक चीज को पारखी की तरह परखती है, खूब मोल-भाव करती है, अंत में दुकानदार के बताए भाव से कुछ कम पर ही चीजों को खरीदती है। पहले पुरुष की बाहें पैक्ड डिब्बों से भरती हैं, फिर लड़की की। हर डिब्बे के साथ वे जमीन से थोड़ा ऊपर उठते जाते हैं। संतुष्टि, सुरक्षा, आत्मविश्वास से भरते जाते हैं। उस रात उनका प्यार ज्यादा घनाता है, खूब गहरा जाता है।...पहले शापिंग वेस्पा पर होती थी, फिर एक सेकेण्ड-हैंड एम्बेसेडर आई। उसे बेचकर और इस दौरान की बचत मिलाकर पद्मिनी-प्रीमियर ली। शुक्र है कि उसने जिद्द करके मारूति की रजिस्ट्रेशन करवा दी थी, वरना ब्लैक में लेनी पड़ती। दिन-ब-दिन बढ़ती ब्लैक और अपनी कोठी के पोर्च में बाजार भाव पर आ खड़ी हुई मारूति को देख पुरुष भावुक हो जाता है-'ओह आरती! यू आर टू वाईज। टू फार साइटेड! मैं तो सिर्फ पैसा कमाना जानता हूं, उसका सही इस्तेमाल तो सिर्फ तुम्हें करना आता है।' लड़की यह सुनकर थोड़ा फूलती है, एकाएक उदास होती है, अतीत की राहों पर वापिस लौटती है और जैसे किसी गहरे, अंधेरे तहखाने से बोलती है-'सब मम्मी ने सिखाया राजे, सब! मम्मी ने ही हमारे घर को बनाया, बढ़ाया! पापा तो बस...!...क्यों डियर, अब इस पद्मिनी को टैक्सी न बना दें...टिन्न ईग्ग!!

टिन-ईग! वह साड़ी का पल्लू कमर में खोंसे कोठी के आगे-पीछे लगाए गए पौधों को पानी दे रही है कि नेपाली नौकर-'बहादुर'-किचन का काम छोड़ उससे कुछ दूर आकर खड़ा हो जाता है। उंगलियां चटकाता वह कभी जमीन, कभी फूलों, कभी उसके चेहरों की ओर देखता है - कुछ परेशान-सा। बहादुर की मौजूदगी का अहसास होते ही वह गुस्से का पोज ले लेती है - 'क्या है रे?...किचन का काम

खत्म हो गया क्या?' बहादुर उंगलियां चटकाता, हकलाता है-'मेम साब, ...मेम सहब...वो...।' वह पोज में गुस्से की लकीरें और गहरी कर देती है-'क्या मेम साब-मेम साब लगा रखी है। बोलना नहीं आता क्या? तुम गंवारों को कभी कुछ नहीं आएगा! कितनी बार कहा है जो कहना हो उसे पहले ठीक से सोचो, फिर साफ-साफ कहो।' बहादुर की नजरें जमीन, फूलों, उसके चेहरे से लड़खड़ाती हुई जमीन पर जा गिरती हैं। वह ढीले बदन को कुछ-कुछ अटेन्शन की पोजीशन में लाता है, कुछ देर सोचता है, फिर ऐसे बोलने लगता है, जैसे कोई बच्चा टीचर को अपना पाठ सुना रहा हो-'घर से चिट्ठी आई है। बाप बीमार है। पैसा मंगाया है। नहीं भेजा तो मर जाएगा।' बहादुर के खड़े होने और बोलने के अंदाज पर उसकी हंसी छूटने को होती है कि वह फिर उंगलियां चटकाता, हकलाता है-'मेम साब'...इस महीने की तनखा...इस महीने की तनखा पैले ही दे दो मेम साब! लड़की हंसने को स्थगित कर फिर गुस्से का पोज लेने को होती है कि बहादुर की आवाज रुंध जाती है-'मेम साब...बाप...!' वह द्रवित होती है लेकिन कठोर बनी रहहती है-'पैसे की खदान हे क्या यहां? इस महीने का काम क्या पहले ही कर दिया है जो तनख्वाह पहले दे दें।' बहादुर उंगलियां चटकाता सुबकने लगता है। वह आवाज को थोड़ा नरम कर लेती है-'अच्छा-अच्छा, रो मत! चल किचन का काम निपटा। शाम को साहब से पूछ कर बता दूंगी।'...लड़की फूलों-पौधों को पानी देती सोचती जाती है - पैसे तो इसे दे ही देने चाहिएं। इस उम्र में बेचारा...! फिर कहीं और खिसक गया तो! मिसेज वर्मन तो इसे पहले ही फुसलाने के चक्कर में है। लेकिन नौकरों को रखना हो तो थोड़ा डांट-डपट करनी ही चाहिए, वरना सर चढ़ जाते हैं। मम्मी के सारे गुर कितने कामयाब हैं! मेरी जगह पपा होते तो क्या करते?...हूं! बहादुर से काम लेने की बजाए उसे पढ़ाने-लिखाने लगते! पपा वाज इन इम्प्रेक्टीकल गाई!...पर मैंने भी क्या नहीं किया बहादुर के लिए! आया था तो कितना गंदा था-चिक्कट कपड़े, मैला बदन! ऐसा नौकर भला गेस्ट लोगों के सामने लाया जा सकता था! अब तो बहादुर का हुलिया ही बदल गया है। नौकर नहीं, मिनी डैनी लगता है। मिसेज बर्मन ने देखा था तो बोली-'ओह! हाऊ क्यूट...!...वह अपनी कृति पर मुग्ध हो जाती है। फैसला कर लेती है कि शाम को बहादुर को पेशगी तनख्वाह दे देगी। सवा सौ ही की तो बात है! अपनी सहृदयता और उदारता पर गद्‌गद् होती है-'हां जी, हमसे तो नहीं बना जाता इतना पत्थर दिल! हमने भी तो बुरे दिन देखे हैं!' भीतर जाकर बहादुर से कहती है-'चाय पीने का मन हो

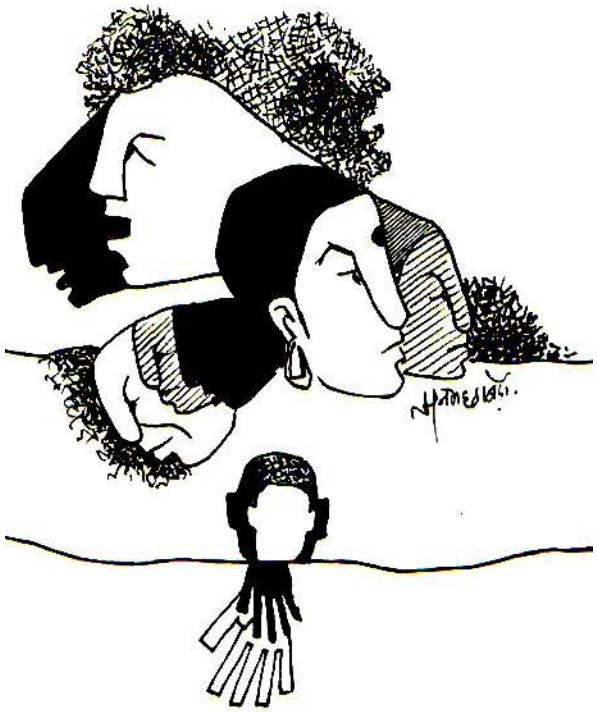

तो बना लो।'...टिन्न...ईग्ग!!

टिन-ईग! पुरुष ने काम से थककर एक पखवाड़े की छुट्टियां ली हैं। वे दोनों एयर-इंडिया के जहाज की सीढ़ियों से ऊपर चढ़ते विदा करने आए मित्रों की ओर हाथ हिला रहे हैं। नेपाल...सिंगापुर...हांगकांग! मित्रों ने काफी सामान लिखवा दिया है वहां से लाने के लिए। थोड़ा खतरा है पर एक तरीके से मुफ्त में पड़ जाएगा ये ट्रिप। हो सकता है कुछ बच-बचा भी जाए। पुरुष फिर भावुक हो उठा है-'यू आर टू वाईज! टू फार साइटेड!...टिन्न ईग्ग!!

टिन-ईग! उसने स्कूल की नौकरी छोड़ दी है। ट्यूशनं भी। स्टाक-शेयर के जरिए वह घर बैठे उससे दुगना पैसा कमा रही है। पढ़ा तो इस दुनिया में बस पपा जैसे लोग सकते हैं। एक कोचिंग सेंटर खोल दिया है कोठी के पिछले हिस्से में। छोटे भाई को उसका प्रिंसीपल बना दिया है। शुरू में दिमाग लगाना पड़ा था थोड़ा, अब तो पूरा सिस्टम ऑटोमेटिक हो गया है। छोटा देख-रेख में ट्रेंड हो गया है। पढ़ने में तो उसका शुरू से मन नहीं था। वह सेटल न करती तो छोटा जानें क्या करता! कितनी श्रद्धा से 'दीदी-दीदी' करता है।...टिन्न...ईग्ग्ग!!

...टिन-ईग...टिन्न...ई-ग्ग...टिन्न्न ईग...ग!!

दृश्य और स्थितियां कहीं चुकते न थे। हर दृश्य और स्थिति में उसे अपनी भूमिका, भंगिमाएं और संवाद बिल्कुल ठीक तौर पर मालूम थे। भविष्य का एक सुनियोजित नक्शा था उसके पास। लेकिन...! उसके दिमाग में इच्छाएं सफेद, भूरे अयालों वाले अरबी घोड़ों की तरह दौड़तीं कि कोई ऊंची दीवार सामने आ जाती। घोड़े बेचैनी से हिनहिनाते, पैर पटकते। लड़की गुस्से और झुंझलाहट से भर जाती।-काश! कोई उसे धान की तरह उसके हालात की जमीन से उखाड़ वहां रोप सकता जहां...! मम्मी हिम्मत बंधाती-'करेंगे छोटी, इस दीवार में भी किसी तरह सुराख करेंगे!...कभी आशंकाओं और अनिश्चितता की खाइयों के किनारों पर घोड़े ठिठक जाते, पीछे हटने लगते। वह मम्मी की ओर देखती-'पुल' बिछाओ मम्मी, कोई पुल बिछाओ इन खाइयों पर।' मम्मी ग्लूकोज की बोतलें चढ़वातीं।...कभी घोड़े भय और असहायता के काले दल-दल में धंस जाते और गर्क होने लगते। लड़की चिल्लाती-'मम्मी...!' कोयला होते कंकाल-सी मम्मी कराहते हुए बिस्तर से उठतीं, खुद को जैसे-तैसे बटोर थकी आंखों से आसपास कोई रस्सी ढूंढने लगती। शुरू में...यह 'लेकिन' रंगों और रोशनियों में छिपा एक बिन्दू भर था, फिर धीरे-धीरे इसका आकार बढ़ने लगा...

होश संभालने से लेकर पपा के

सायकेट्रिक वार्ड में दाखिल कराए जाने तक लड़की ने मम्मी को हमेशा पापा से झगड़ते पाया था। पापा कॉलेज से आकर अपने कमरे में बंद हो जाते या जानें किस-किस जगह सभा-गोष्ठियों-सेमीनारों में दिन गुजार रात गए घर लौटते। पर उनकी लिखाई-पढ़ाई, घूमने-फिरने का कोई ठोस परिणाम सामने नहीं आता था। पड़ोसी प्रो. गुप्ता थे - लुंगी लपेटे ट्यूशनों के कई-कई बैच चलाते। गाइडें लिखते। मुटल्ली मिसेज गुप्ता मम्मी से कहतीं-'चलै है भैंना, चल आज वासिंग मशीन देख आवैं...हमनै तो जी अपने बबलू खातिर भी रोहनी में मकान रजीस्टर करवा दिया हैगा...।' मम्मी पापा के आगे-पीछे भुनभुनातीं-'अरे इस घर, इन बच्चों के बारे में भी सोचो कुछ कि सारी जिन्दगी बस लड़कपन ही करते रहोगे! पापा किताबों के गट्ठर खरीद लाते, मम्मी उन पर हिफाजत भरी नजर डालती, तुनकतीं - 'किसी काम की चीज पर भी पैसा खर्च करोगे कभी कि बस नावलों से भरते रहोगे इस घर को। तीन-तीन बच्चों के बाप हो गए हो, सोच-समझ कर उड़ाओ। जब गृहस्थ की है तो गृहस्थ की तरह निभाओ।'

घर कभी-कभी पापा के अजीबो-गरीब दोस्तों से भर जाता। वे ठहाके लगाते। किचन में घुस सारी चीनी खत्म कर डालते। फर्श को सिगरेट-बीड़ियों के अधजले टुकड़ों से भर देते। बहस करते। बहस के दौरान एक-दूसरे को गुस्से से देखते, ऊंचे-ऊंचे बोलते, खामोश हो जाते, तेज-तेज कश मारते, फिर ठहाके लगाने लगते। वे लड़की से दो साल बड़े भाई को बहुत चाहते थे। उसे जाने क्या-क्या बताते, किताबें दे जाते। वह उनके बीच बैठा हथेलियों पर ठुड्डी टिकाए, आंखें फाड़-फाड़ उन्हें देखता, उनकी बहस सुनता रहता। उनके लिए चाय बनाकर खुश होता। दौड़-दौड़ कर पान लाता। मम्मी लड़की और छोटे को लेकर छत पर चली जातीं। कुढ़तीं। बार-बार ठंडी सांसें छोड़ते हुए लड़की से कहतीं-'देख ले छोटी, देख ले। लुट रहा है हमारा घर! ये निठल्ले डाकू बरबाद कर देंगे हमें। देख ले छोटी, देख ले।' लड़की को पापा और उनके दोस्तों पर गुस्सा आता। छोटा मुट्ठी बंद कर एक उंगली को सीधा करके फायर करने लगता-'बला हो कल मैं इने दंबूक से उला दूंगा। ठांय...ठांय...ठांय!' कमरे से आंगन और आंगन से छत तक न समझ आन वाले शब्दों के टुकड़े उड़ते रहते-आजादी के बाद उपभोक्तावादी समाज..जन-चेतना का राजनीतिकरण...तेलंगाना का तरीका...नेहरू की नीतियां...फासिस्टी संगठन...!

पपा को कुछ नहीं आता था। न पड़ोसियों-रिश्तेदारों से कायदे की बातें करना, न खरीद-फरोख्त, न ढंग से रहना-सहना। सब मम्मी को करना पड़ता। वही सोग-सगुन के मौकों पर लोगों के यहां आती-जातीं, लड़-झगड़ घर के सामान में बढ़ोतरी करतीं, खरीददारी करतीं। बाप रे, मम्मी को कितना कुछ पता था-आजकल कौन-सी नौकरी में कितना पैसा मिलता है, किस ओहदे का जमाई कितने तक का पड़ जाता है, किस पड़ोसी ने चुपचाप अपनी कंवारी लड़की का गर्भपात करवाया है, किस रिश्तेदार के लड़के ने प्रेम-विवाह किया है...! सिर्फ मैट्रिक पास थीं मम्मी, और पपा थे लेक्चरार, पर कितना अन्तर था दोनों के ज्ञान में! लड़की मम्मी से प्रभावित रहती। मम्मी कहीं भी आते-जाते लड़की को अक्सर साथ रखतीं। फिर छोटे-मोटे कामों पर उसे अकेली भेजने लगीं-ढेर हिदायतों के साथ।

दो लड़कियां और आ गईं। मम्मी का झगड़ना बढ़ गया। वे तीन-तीन लड़कियों के ब्याह के बोझ की बात करती रहतीं। पपा कभी-कभी कहते-'जमाना बदल जाएगा, इनके बड़ी होने तक। ये खुद कर लेंगी अपनी शादियां, अपनी पसंद के लड़कों के साथ।' मम्मी चिल्ला उठती-'बिगाड़ दो, अभी से बिगाड़ दो। और कुछ तो बस का है नहीं तुम्हारे। हाय राम...किस्मत ही फूट गई रे...!' मम्मी दोनों हाथों से अपना माथा पीटतीं, साड़ी का आंचल मुंह में ठूंस रोने लगतीं। पपा अपने कमरे में चले जाते। डरी, सहमी छोटी बच्चियां मम्मी से चिमट जातीं। बड़ा मम्मी को घूरता। मम्मी पपा के बंद कमरे की तरफ हाथ हिला-हिला गालियां देने लगतीं। बड़ा झपटकर उनके मुंह को अपनी हथेली से भींच देता। मम्मी फर्श पर पैर पटकने लगतीं। छोटा हाथ को बंदूक बना बड़े की तरफ फायर करता। बड़ा उसे धुन देता और मम्मी बड़े को। वह थोड़ी देर चुपचाप खड़ा मम्मी को घूरता फिर पपा के कमरे में घुस जाता। लड़की मम्मी को पानी पिलाती।

मम्मी हिम्मती थीं, पपा दब्बू और डरपोक। मम्मी झगड़तीं तो पपा धीमी आवाज में कुछ समझाने की कोशिश करते, बीच में ही चुप हो जाते, फिर मम्मी के पास से हट जाते। वे घर से काफी बाहर रहने लगे थे। हां, बड़ा अक्सर मम्मी को उल्टा-सीधा कहता। धीरे-धीरे सब कुछ मम्मी के हाथों में सिमटता गया, सारे फैसले। पपा को रोज दो कप चाय, घर से कालेज आने-जाने का बस-किराया और महीने में एकाध किताब के पैसे दे दिए जाते और बस। मम्मी ने पास-पड़ोस की औरतों को मिला कर दो छोटी-छोटी लॉटरियां शुरू की। बैंक में तीनों लड़कियों के नाम माहवार कुछ पैसा जमा होने लगा। स्वेटर बुनने की एक मशीन खरीदी गई। और एक बड़े से गत्ते पर लिखकर घर के बाहर लटका दिया गया-'यहां डिजाइनदार स्वेटर बुने जाते हैं।' पपा के कमरे से किताबों के ढेर निकाल पुरानी साड़ियों में बांध किचन की परछत्ती पर रख दिए गए और कमरा किराए पर चढ़ा दिया गया। पपा के अजीबो-गरीब दोस्तों की आमद बंद कर दी गई। खाली लगते घर में एक-एक कर चीजें आती गईं-डबल बेड, सोफा, दीवार घड़ी, कुकिंग गैस। घर अब घर-सा लगने लगा। जब भी कोई नई चीज आती, पूरे मुहल्ले की औरतें एक-एक करके देखने आतीं। नई चीज पर हर कोण से चर्चा होती। मिसेज गुप्ता से तुलना की जाती। मम्मी सज-संवर सोफे पर बैठतीं और मुंह बना-बनाकर पड़ोसियों से बातें करतीं। मुहल्ले की औरतों के समाज में उनकी कद्र और रुतबा बढ़ता जा रहा था।

पपा और बड़ा जाने कहां-कहां घूमते। देर से घर लौटते और चुप रहते। पपा की चुप में तो मालूम नहीं क्या था, पर बड़े की चुप अंगारे पर जमी राख थी! लड़की को बड़े से डर लगता। वह छोटे से प्यार करती। जिस रोज टीवी आया पपा हौले से बुदबुदाए-'क्या कर रही हो तुम? बच्चों को कैसे जीना सिखा रही हो? मम्मी ने, कड़वी निगाहों से उन्हें देखा-'ऐसे जीना सिखा रही हूं जैसे जीना चाहिए, जैसे दुनिया जी रही है! तुम जैसे नामरद...।' चुपचाप खड़ा बड़ा मम्मी की ओर लपका-'फिर से कहो, फिर से कहो, जरा...।' पपा उसका हाथ थाम बाहर ले गए।

लड़की बी.ए. कर गई थी। 'सरिता' पढ़ती, 'स्पान' मंगाती। शाम को बड़े और पपा को छोड़ सब टीवी के चारों ओर बैठते। वह डेल कार्नेजी की किताबें पढ़ती-पढ़ती कह उठती-'हाय, ये बात तो मम्मी भी

कहती है! ममा इज सो वाईज़!' एक दिन बड़े ने सुन लिया तो गुर्रा पड़ा उस पर 'योर ममा इज अ स्पाईडर!' लड़की को उसकी बात बिल्कुल समझ नहीं आई। 'ये भी पता नहीं पपा की तरह किस दुनिया में रहता है! कैसी तो वकेबलरी इस्तेमाल करता है! परसों मम्मी के बारे में कह रहा था कि वे हीलियम भरा बैलून हैं!...एम.ए. के बाद यूं ही आवारागर्दी करता घूमता है! मम्मी ने कहा कम्पीटीशन में बैठो तो किस तरह से देखा था मम्मी को-जैसे भस्म कर देगा। मिस्टर सुखीजा तो कह रहे थे डाइयां बनाने की मशीन लगा दो इसके लिए घर में ही, वे गाइड कर देंगे, मार्किट बनवा देंगे।...दिस मि. सुखीजा इ अ सक्सेसफुल मैन! कुछ ही साल में कितना बड़ा बिजनेस फैला लिया है। इन्होंने डेल कार्नेजी पढ़ा है क्या?...कहां पढ़ा होगा? आठवीं के बाद तो पढ़ना छोड़ दिया था इन्होंने।'

मम्मी को लड़की के ब्याह की चिंता सताने लगी थी। वे परिचितों-रिश्तेदारों से लड़का बताने के लिए कहतीं। मम्मी और लड़की उनके बताए लड़कों पर नाक-भौंह सिकोड़ लेती। ढीले-ढाले यू.डी.सी., रेलवे में कलर्की करते बुढ़ाए जवान, गवर्नमेंट स्कूलों के आलसी, आत्मसंतुष्ट मास्टर। मम्मी कहतीं-'ये लोग सोचते हैं हमें इनके जमाइयों-सा लीचड़ ही चाहिए!' लड़की ने एम.ए. के पहले साल में संतोषी माता के व्रत रखे। दूसरे साल वह धर्म निरपेक्ष हो गई, शुक्रवार को खटाई खाने लगी। पपा और बड़े को लेकर मम्मी का गुस्सा बढ़ने लगा-'कैसे मर्द हैं ये, दुनिया से न्यारे।' वे हाई ब्लड-प्रेशर का शिकार हो चलीं। लेकिन वे लड़के के लिए भाग-दौड़ करती रहीं, लोगों को कहती रहीं।

मम्मी जमीन और जमाने को समझने वाली औरत थीं। जानती थीं खाते-पीते घरों के सुंदर, हृष्ट-पुष्ट, कमाऊ पूत यूं ही दुल्हे बनकर नहीं आ जाते। मम्मी पासबुकें देखतीं। घर के आंगन में उन्होंने एक ब्लैक बोर्ड, कुछ खिलौने और चार्ट, छोटे-छोटे स्टूलों और थर्ड डिवीजन में बीए पास एक टीचर का बंदोबस्त कर 'क्रीसेन्ट नर्सरी पब्लिक स्कूल' खोल दिया। मुहल्ले और आसपास के दस-पंद्रह छोटे-छोटे बच्चे आंगन में 'ए से एपल' गाने लगे। बड़ी लाटरियां डालनी शुरू कर दी। मिस्टर सुखीजा से पूछताछ कर छोटे-मोटे स्टॉक-शेयर खरीदने लगीं। अब वे अपने लाडले छोटे पर भी बिगड़ने लगी थीं। वह पढ़ना-लिखना छोड़ बो डेरेक और ब्रूस ली के पोस्टर जमा करता रहता। बोनी-एम के कैसेट सुनता रहता। बड़ा तो पहले ही कई-कई दिन घर से गायब रहता था। लौटता तो उसकी आंखें दहकती होतीं, कपड़ों और बालों में धूल भरी होतीं। छोटी लड़कियां भी तेजी से जवानी में कदम रख रही थीं।

राम-राम कर एक काम का लड़का नजर आया। लंबा सुंदर, सेल्ज मैनेजर। लउ़की ने फोटो देखते ही उसे पसंद कर लिया। उसके भीतर कई दिन टिनींग-टिनींग होती रही, घोड़े सरपट दौड़ते रहे। मम्मी जोश से भर गई। लड़के वाले देखने आ रहे थे। कई दिन पहले से तैयारियां शुरू हुई। ने छोटे के पोस्टर फाड़कर फैंक दिए, बड़े और पपा को कोसा और कराहती हुई बिस्तर में पड़ गई।

लड़की की क्लास में कई इश्क चल रहे थे। एक दो ने उसकी तरफ भी लाईन मारी। एक लड़का उसे कुछ जंचा। हालांकि उसका कद सपने के पुरुष से छोटा था पर वह दो-तीन इंच समझौता करने के लिए तैयार थी। लड़की ने जांच-पड़ताल की। वह शौकिया पढ़ रहा था, बाप का हेल्मेट बनाने का कारखाना था, घर में अकेला लड़का था, लड़की को लेकर गंभीर था। एक दिक्कत सामने आई-वह दूसरी जात का था। लड़की ने इस स्तर पर प्रगतिशील हो जाने का फैसला लिया। डेटिंग

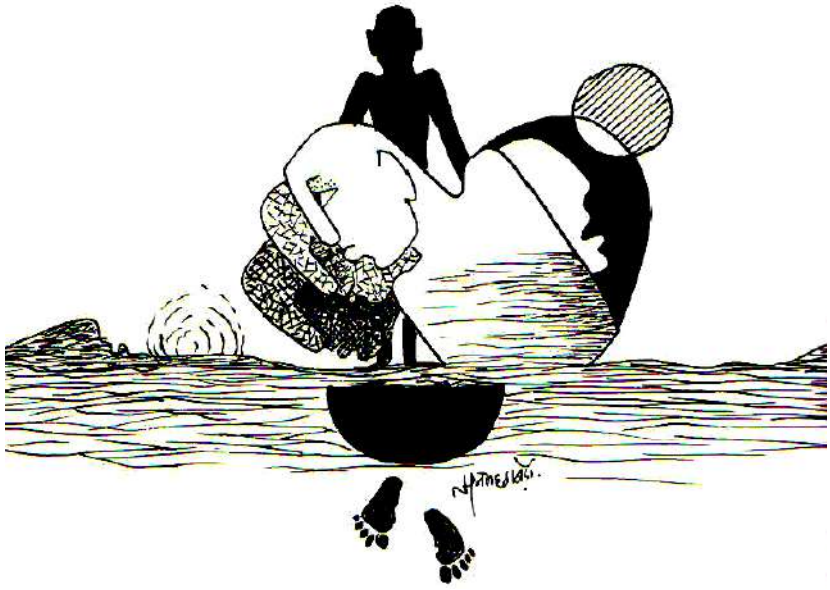

वे 'अपनी' कार में आए - लड़के की डॉक्टर बहन, मां, भाभी और लड़का। शक्ल, पहरावा, बातचीत, खानदान - सब मन माफिक! लड़के ने लड़की को देखा फिर दीवार पर लगी पेंटिंग को देखने लगा जो लड़की की एक चित्रकार दोस्त ने बनाई थी और जिस पर लड़की ने मिन्नतें कर अपना नाम लिखवा लिया था। मम्मी ने उस दिन के लिए सुखीजा का नौकर मांग लिया था। वे बैठी-बैठी मेहमानों से ढेरों बातें कहती रहीं। उन्हें हमेशा पता होता था कब और कहां कैसी बातें करनी चाहिए। वे जाने लगे। मम्मी के जवाब मांगने पर बोले कि डाक से बता देंगे। उस दिन मम्मी शुरू हुई। लड़की का सामान्य ज्ञान काफी व्यापक था। उसे मालूम था किस नम्बर की मुलाकात में बात कहां तक पहुंचती है, लेकिन पहली ही बार में उसे भावुक और गाबदू है कि उसके मां-बाप जात-पात को लेकर बहुत कट्टर किस्म के लोग हैं और लड़की से ब्याह किसी हालत में नहीं होने देंगे कि वह अपने-बाप से बेइंतहा प्यार करता है और सपने में भी उन्हें दुख पहुंचाने की बात नहीं सोच सकता, लेकिन वह लड़की को बहुत चाहता और उसके बगैर जीना उसे नामुमकिन लगता है। विचित्र उलझन भरी स्थिति थी। लड़की ने अपने पास एकत्रित सारे फार्मूलों से ये सवाल

हल करके देखा। नहीं हुआ। लड़का उससे आखिर चाहता क्या है? क्या मम्मी से सलाह ली जाए। एम.ए. फाइनल का पूरा साल इसी ऊहा-पोह में गुजर गया। लड़का उसकी ओर मासूम, हसरत भरी निगाहों से देखता रहता।

मम्मी ने छोटे के लिए डाई बनाने वाली मशीन लगवा दी। पर वह सिर्फ पोस्टर इकट्ठे करता, अंग्रेजी फिल्में देखता, कमरा बंद कर ट्रेबोल्टा की तरह नाचने की कोशिश करता। कुवैत वाले रिश्तेदार को चिट्ठियां लिखता कि वे उसके लिए वहीं कोई काम ढूंढ दें, वह इंडिया से 'बोर' हो गया है और जवाब का इंतजार करता रहता। एक दिन सुखीजा ने मम्मी को बताया कि बड़ा सरकार के खिलाफ काम करता है। 'गलत गल्ल आ जी! बड़ा ओच्छा काम अ जी! कोई होनहार बंदा कद्दे राज दी खिलाफत नई करदा जी!' पपा बहुत अजीब हो गए थे। महीन में एकाध दिन भूल जाते कि वे कौन हैं। खुद को कभी कृष्णा बताते, कभी नेहरू! ऊट-पटांग बकते-'राष्ट्रीय अखंडता...शासक वर्ग का बदलता हुआ चरित्र...नियो-रिच फिलीस्टाईन्स...!' अगले दिन फिर ठीक हो जाते। मम्मी अब उन्हें डांटती नहीं थी। उनसे नजर बचातीं। लड़की को कई दफा और देखने वाले आए। बात नहीं बनी। कहीं न कहीं गड़बड़ हो जाती। लड़का ठीक होता तो इन्कम कम होती, इन्कम उम्मीद के आसपास होती तो लड़का 'टॉल एंड हैंडसम' न होता, कहीं दोनों बातें पूरी होतीं तो लड़के वाले डाक से जवाब देने की बात कहकर चले जाते।...शहर में रोज स्टोव फटने लगे थे। बहुएं जलतीं या जला दी जातीं। मम्मी बड़बड़ाती - 'हे भगवान! ये क्या हो रहा है?' लड़की को भी समझ न आता कि क्या हो रहा है। उसे कभी डर लगने लगता। वह मम्मी को कई बार अकेले में रोते पाती। फिर एक दिन पपा एक महीने तक भूले रहे कि वे कौन हैं। सुखीजा की कार में मम्मी उन्हें अस्पताल ले गई। डाक्टरों ने उन्हें सायकेट्रिक वार्ड में दाखिल कर लिया। अगले दिन मम्मी को भी ग्लूकोज चढ़वाना पड़ा।

मम्मी के बनाए रास्तों पर अब सारी भाग-दौड़ लड़की के पैरों को करनी पड़ती। ढेरों हिसाब-किताब, ढेरों जोड़-तोड़! उसने मुफ्त में सुखीजा के बच्चों को पढ़ाना शुरू कर दिया। सुखीजा के एक दोस्त ने 'आक्सफोर्ड कान्वेंट मॉडल स्कूल' खोला। लड़की 'फोर द टाईम बीइंग' टीचर हो गई। सुबह आठ बजे स्कूल निकलती, दो से आठ 'विहारों' में नई रईसों के बिगड़े बच्चों को ट्यूशनें पढ़ाती। बच्चों की मुटाप ग्रस्त मम्मियों से बात की बात में घुल-मिल जाती। उनके घरों में आने वाली चीजों के बारे में जानकारियां लेती। घर के स्कूल की देखभाल, लॉटरियां, स्टाक-शेयर, सामाजिकता के तकाजे - सब लड़की के जिम्मे! वह बेतरह थक जाती।...लेकिन दिन की तमाम व्यस्तताओं और थकान के बावजूद बीच-बीच में टिनींग-टिनींग का संगीत बजता, घोड़ों के अयाल उड़ते! पर रात को जब उसके पास कोई व्यस्तता न बचती, वह अपनी उम्र के साल गिनती तो एक बेचैनी से भरने लगती। उसे अपना-आप बहुत अकेला लगता। घर ही के लोगों के चेहरे सवाल बनकर उसे घेरने लगते-मम्मी, पपा, बड़ा, छोटा, वह खुद! संगीत और घोड़ों की टापें मद्धम पड़तीं, दूर और दूर होती जातीं और अन्त में न जाने कहां खो जातीं। वह एक अंधेरे कुएं में डूबती जाती। कुएं में स्टोव फटने के धमाके और जलती औरतों की चीखें गूंजती। वह पसीने में नहा जाती।

उसे नींद के बुरे-बुरे सपने आते-पागल, जंगली हाथियों का चिंघाड़ता हुआ एक झुण्ड उसकी कोठी के फूलों और पौधों को अपने भारी-भरकम पैरों से कुचल रहा है...वे दरवाजे तोड़ कर ड्राइंगरूम, किचन, बैडरूम में घुस आए हैं...उत्पात मचा रहे हैं...एक हाथी ने पुरुष को अपनी सूंड में उठा दीवार पर दे मारा है...प्लास्टर ऑव पेरिस के बुत की तरह पुरुष खील-खील हो गया है...टूटे हुए टीवी, वीडियो, स्टीरियो पर्शियन कालीन पर बिखरे पड़े हैं...हाथी मारुति से फुटबाल खेल रहे हैं...बड़ा हंस रहा है।

सुबह की रोशनी और परिचित चीजें, चेहरे, आवाजें उसे आश्वस्त करते। जाने-माने रास्ते फिर फैलने लगते-फैलते जाते, फैलते जाते! वह दौड़ने लगती। हाथियों की चिंघाड़ें और बड़े की हंसी व्यस्तता में खो जाती। सारी व्यवस्थाओं के बावजूद कभी-कभी टिनींग, टिनींग का संगीत लौट आता, घोड़ों की टापें सुनाई देने लगतीं... ●●

अरुण कैहरबा की कविता

ऐसी-कैसी शिक्षा

खुद पढ़ें और पढ़ाएं,
किताबें ही नहीं,
बच्चों में भी झांक आएं,
बच्चों की चाह, बच्चों की आह,
बच्चों की चिंताएं और परवाह,
बच्चों की बातें, सपने, कल्पनाएं
उनकी उम्मीदें, निराशा, आशाएं
पाने को इक रोटी का टुकड़ा,
हाथ पसारे क्यों गिड़गिड़ाएं?
गले में कट्टे का बड़ा-सा थैला,
फटे हैं कपड़े, हाथ में मैला

प्रचण्ड गर्मी में काटें जो फसलें
सुबह नंगे पांव घर से वो निकलें
सूरज की किरणें पानी में खेलें
रात की ठिठुरन को भी झेलें

आपका गुस्सा है एक अड़चन,
आपका डंडा है इनका दुश्मन,
दाब के बिना रस नहीं निकलता
पुरानी पड़ चुकी सोच है बंधन
खेल से मेल होगा,
गीत से प्रीत होगी,
स्कूल में संगीत की भी इक रीत होगी।
नफरत से धरती पर जीना दुश्वार होगा
प्यार से सुधार होगा।

रट्टे से भर लो चाहे कितने कट्टे,
आनंद के बिना कैसे होंगे मीठे,
ये सारे अनुभव रहेंगे खट्टे

बच्चों को मानते रहे हम कमतर
कच्ची-गीली मिट्टी आकार देने को
कोरी स्लेट मनमाफिक लिखने को
खुद को खुदा
कुछ भी कर दें
खाली कनस्तर में कुछ भी भर दें
ऐसे हमने सृजनशील बालकों को
बनाया ग्रहणकर्ता
उनकी क्षमताओं को किया कुंद
उनकी संभावनाओं को मंद।

सम्पर्क: 9466220145

कौन बनेगा अमेरिका का राष्ट्रपति

महावीर शर्मा

पूरी दुनिया की नजर अमरीका पर है, ऐसा हर दस साल बाद होता है। नवम्बर 2016 में अमरीकी राष्ट्रपति का चुनाव होना है। अभी पद की उम्मीदवारी के चयन के लिए चुनाव अभियान चल रहा है। जुलाई अंत तक दोनों पार्टियां अपने-अपने उम्मीदवार चुन लेंगी। इस पूरे अभियान में विश्व के जनमानस की गहरी दिलचस्पी होने का सबसे बड़ा कारण है अमरीका का सर्वोच्च महाशक्ति होना। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से ही अमरीकी राष्ट्रपति शक्तिशाली शख्सियत होती है, जो पूरी दुनिया के हर मामले में निर्णायक दखलदांजी करती है। बेशक, इस दखलदांजी के भयानक परिणाम निकलते रहे हैं, लेकिन ये आज तक जारी हैं। अमरीकी आर्थिक शक्ति कमजोर होने के बावजूद भी। चीन-रूस की टोका-टाकी भी इस खुली धौंसपट्टी / दादागिरी पर कोई खास लगाम नहीं कस पा रही। अमरीकी डालर आज भी अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा है व लगातार मजबूत होता जा रहा है। अब अगर पूरी दुनिया का राजनैतिक-आर्थिक दायरा अमरीकी राष्ट्रपति चुनाव में गहरी दिलचस्पी रखे तो आश्चर्य क्या है? चुनाव अभियान की मीडिया कवरेज ने इस दिलचस्पी के क्षेत्र को बढ़ाकर आमजन को भी इसमें शामिल कर लिया है। ये एक तरह से अच्छा ही है, क्योकि इस एक शख्स के फैसलों से पूरे जगत के जनमानस का रोजमर्रा का जीवन प्रभावित होता है। हम भारतियों का तो कहना ही क्या, हमारे उच्च व मध्य वर्ग के लिए तो अमरीका ड्रीमलैंड है और अमरीकी जीवन शैली का रहन-सहन सर्वोच्च पसंद।

पिछले छह महीने से भी ज्यादा समय से राष्ट्रपति पद के उम्मीदवारों के चयन की प्रक्रिया चल रही है। सभी 52 राज्यों में दोनों पार्टियों (रिपब्लिकन व डेमोक्रेट) के उम्मीदवारों के बीच घमासान जारी है। रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार पद की दौड़ में खरबपति डोनाल्ड ट्रम्प ने अपने सभी प्रतिद्वंद्धियों को बहुत पीछे छोड़ दिया है, जबकि डेमोक्रेटिक पार्टी में हिलेरी क्लिंटन व बर्नी सैण्डर के बीच मुकाबला जारी है, लेकिन इस बार का अभियान खासा हंगामेदार और उम्मीद भरा है। डेमोक्रेट बर्नी सैण्डर और रिपब्लिकन डोनाल्ड ट्रम्प चुनावी चन्दे के मामलें में एक जैसी राय रखते हैं। दोनों कह रहे हैं कि अभियान के दौरान कार्पोरेट घरानों से चुनावी चंदा नहीं लेना चाहिए, लेकिन इस एकमत के कारण बिल्कुल विपरीत है। बर्नी कह रहे हैं कि कार्पोरेट घराने करोड़ों डालर चुनावी चंदा देकर एक तरह की 'इनवैस्टमैंट' करते हैं। बाद में अपने पक्ष की नीतियां बनवाकर इस रकम का कई हजार गुणा वसूल करते हैं। इन सारी भारी भरकम रकम का बोझ आम अमरीकी नागरिक उठाता है। (भाई ऐसा तो हर देश में हो रहा है) बर्नी का पूरा अभियान आम अमरीकियों के छोटे-छोटे योगदान से चल रहा है। ट्रम्प ने शपथ पत्र में अपनी सम्पति की कुल कीमत 10 अरब डालर बतायी है। उन्होंने पूरे चुनाव अभियान में किसी भी कार्पोरेट से डोनेशन नहीं लिया है। उनकी राय के अनुसार तो केवल अरबपति ही उम्मीदवार होने चाहिएं।

हिलेरी इस मसले पर फंसी हुई हैं, चूंकि बड़े डोनेशन उन्होंने ले रखे हैं, लेकिन मजबूरी के चलते उन्हें कहना पड़ रहा है कि वो कार्पोरेटी लालच पर लगाम लगाएंगी। बर्नी उनसे बार-बार पूछ रहे हैं कि ये कैसे संभव है कि उन्हीं का धन इस्तेमाल करें और उन्हीं के नुक्सान की नीतियां बनाएं। सच है बर्नी भाई हमारे हरियाणा में तो कहते ही हैं कि जिसकी खावै बाकळी, उसी की गावै रागनी। बर्नी, ट्रम्प से भी पूछ रहे हैं कि आपने पिछले राष्ट्रपति चुनाव में किस-किस उम्मीदवार को कितना-कितना चंदा दिया था। ट्रम्प बिल्कुल मूक है। चुनाव अभियान की शुरूआत में ही सारे मीडिया और सभी सर्वेक्षणों ने बर्नी सैण्डर को बहुत हल्के में लिया था, लेकिन बर्नी के आर्थिक संकट, मंदी-महंगाई, बेरोजगारी व प्रदूषण सभी समस्याओं के लिए वाल स्ट्रीट (स्टोरियों का अड्डा), कार्पोरेटी लालच और जैव ईंधन कम्पनियों को जिम्मेदार ठहराया और इन पर खुला हमला बोल दिया। इस तरह, बदहाल अमरीकी जनमानस के बीच उनकी प्रसिद्धि का ग्राफ बढ़ता गया और वे एक के बाद दूसरी जीत दर्ज करते गए। उन्हीं के शब्दों में एक बानगी देखिए, बर्नी यहां कैलिफोर्निया राज्य की एक जनसभा में बोल रहे हैं कि दुनिया बदल रही है, लाखों-लाख अमरीकियों में वर्तमान राजनैतिक आर्थिक व्यवस्था के खिलाफ जबरदस्त रोष है। आज डेमोक्रेटिक पार्टी के पास एक मौका है कि वो अपने दरवाजे इन लोगों के लिए खोल दे और इन सबका जोरदार स्वागत करे, क्योंकि ये सब लोग वास्तविक सामाजिक-आर्थिक बदलाव लाने हेतु एक लंबी लड़ाई लड़ने के लिए तैयार होकर आए हैं। ये सब लोग वालस्ट्रीट से बड़े-बड़े निगमों के लालच से और जैव ईंधन कम्पनियों के प्रदूषण से टकराने के मूड में आए हैं और ये तीनों राक्षस ही इस सुंदर ग्रह का सत्यानाश कर रहे हैं।

क्या कोई सोच भी सकता था कि अमरीकी राजनीति में कभी ऐसा तूफान भी आएगा कि इसकी चूलें हिल जाएंगी। 2004 के चुनाव में जानसंस के रूप में ऐसी ही छोटी सी धारा थी। उसे नजरअंदाज करके मार दिया गया था। 1968 में वियतनाम युद्ध विरोधियों ने ऐसा ही तूफान उठाया था, लेकिन इस बार सबसे अलग है ये बर्नी सैण्डर की हुंकार जिससे एक ओर कार्पोरेट कांप रहे हैं, वहीं दूसरी ओर समस्त अमरीका के युद्ध विरोधी, रंगभेद विरोधी, नारीवादी, प्रवासी रक्षक ओकूपाई वाल स्ट्रीट

आंदोलनकारी और पर्यावरणवादी एक मंच पर इकट्ठा हो गए हैं। आज स्थिति यह है कि डेमोक्रेटिक पार्टी के नेता, प्रतिनिधि, सुपर प्रतिनिधि हिलेरी के साथ हैं पर आम अमरीकी जनमानस का बहुमत बर्नी के पक्ष में मजबूती से खड़ा है।

उधर, दूसरी तरफ ग्रांड ओल्ड पार्टी रिपब्लिकन में डोनाल्ड ट्रम्प का पूरा चुनाव अभियान मुस्लिमों, हिस्पैनिकों, प्रवासियों, शरणार्थियों व असहायों के खिलाफ घृणा का सैलाब है। इससे आम अमरीकी नागरिकों का बड़ा हिस्सा इस कद्र चिंतित है कि ट्रम्प के राष्ट्रपति चुने जाने की स्थिति में 28 प्रतिशत अमरीकी देश छोड़ने की सोच रहे हैं। रिपब्लिकन पार्टी के कई बड़े नेता ट्रम्प की उम्मीदवारी रोकने का अभियान चला रहे हैं, लेकिन अमरीकी मध्य वर्ग (श्वेत) की ये त्रासदी है कि वे इस घृणा की नदी में अपनी बदहाली का हल खोज रहे हैं। ये सब भारत से कितना मिलता-जुलता है।

अभी कई बड़े राज्यों में, दोनों ही पार्टियों के चुनाव सम्मेलन बाकी हैं। औपचारिक घोषणा चाहे जुलाई अन्त तक हो, लेकिन लगभग निश्चित हो चुका है कि नवम्बर 16 में मुकाबला डेमोक्रेटिक हिलेरी क्लिंटन और रिपब्लिकन डोनाल्ड ट्रम्प के बीच होने जा रहा है। ये विडम्बना है, अमेरिकी चुनावी प्रक्रिया की, कि एक पार्टी में जिस उम्मीदवार के पक्ष में जनमत है उसके पक्ष में पार्टी नहीं, दूसरी पार्टी में खुद पार्टी जिसके खिलाफ है, पार्टी वोटर उसके पक्ष में है। दोनों पार्टियों में इस पूरी प्रक्रिया को लेकर सवाल उठने शुरू हो गए हैं। रयूटर के ताजा सर्वेक्षण के अनुसार आधे से भी ज्यादा अमेरिकियों का कहना है कि पूरी प्रक्रिया ही गलत है। इस सारे गड़बड़झाले का फायदा उठाकर कोई भी उम्मीदवार बन सकता है। इस पूरी प्रक्रिया का अपहरण किया जा सकता है। दो तिहाई अमरीकन सोचते हैं कि इसे बदल दिया जाना चाहिए। प्रक्रिया वाकई उलझ-पुलझ है। प्राईमरी, काकस/आम पार्टी मैंबर, डेलीगेटस, सुपर डेलीगेटस, अटैच्ड/अनअटैच्ड/अच्छा खासा समझदार नागरिक भी चकरा जाता है। इसी से मिलती-जुलती राष्ट्रपति पद के आम चुनाव की प्रक्रिया है। जहां आम वोटर का बहुमत, समयानुसार और कोलेजियम का गड़बड़झाला है। इसी कारण कई बार आम चुनाव में हास्यास्पद स्थिति पैदा हो जाती है। इसी सदी की शुरुआत में अलगौर और जार्जबुश के बीच ऐसा हो चुका है।

हैरानी की बात है कि हम भारतीय फिर भी इसकी नकल करना चाहते हैं और टू पार्टी सिस्टम की वकालत करते हैं। सभी जनमत संग्रह और सर्वेक्षण एक जैसे नतीजे दिखा रहे हैं कि हिलेरी और ट्रम्प के बीच का फासला घट कर केवल 2 प्रतिशत रह गया है, लेकिन बर्नी सैण्डर और ट्रम्प के बीच अगर मुकाबला हो तो बर्नी ट्रम्प से 10 प्रतिशत आगे हैं। ये त्रासदी है कि अमरीकी बहुमत के चहेते होने के बावजूद बर्नी राष्ट्रपति तो दूर राष्ट्रपति के उम्मीदवार भी नहीं बन पाएंगे और हर तरह की घृणा फैलाने वाले मूर्ख-अरबपति ट्रम्प व्हाईट हाऊस के नजदीक पहुंचते जा रहे हैं। पिछले छः महीने तक अमरीकी जन मानस के दिलो दिमाग पर छाए रहने के बावजूद, नवम्बर 16 के चुनाव अभियान में बेरोजगारी-महंगाई-पर्यावरण मुद्दा नहीं होगा, क्योंकि उम्मीदवार बर्नी नहीं हिलेरी हैं। मीडिया के असहयोग के बावजूद बर्नी इन मुद्दों को गरमाए रहते, क्योंकि वे जड़ पर सीधा हमला करते हैं। हिलेरी में इन मुद्दों पर खुद खोट है और वे रस्म अदायगी करेगी। ट्रम्प की घृणा के शोर में ये रस्म अदायगी गुम हो जाएगी। रही सही कसर, अमरीकी गर्व और आतंकवाद का प्रेत पूरी कर देगा। एक शानदार शुरूआत के इतने दुखद अंत की किसी ने भी कल्पना नहीं की होगी। आने वाले चार सालों में ट्रम्प राष्ट्रपति के रूप में दुनियाभर में क्या-क्या कार्यों को अंजाम देंगे। ये सोच-सोच कर रोमांच भी होता है और दुःख भी। अब तो एक ही आह निकलती है कि बर्नी चार साल और जवान रहें। अभी वे 70 के करीब के शानदार नौजवान दिखते हैं। सम्पर्क : 92532-40576

गीत

महेंद्र सिंह 'फकीर'

धरती पर फैला दो, ये प्यार का पैगाम
लव तो लव है इसमें, जेहाद का क्या काम

ऐ जवानों करो बगावत
इस माहौल के खिलाफ
मानवता के दुश्मनों को
करना कभी मत माफ
भगत सिंह ने पिया था, पी लो वो ही जाम

छुरी लहराने वाले
क्यूं पा रहे सब मान
फूल खिलाने वाले
क्यूं झेल रहे अपमान
दीप जलाओ ऐसा, के ढल जाए ये शाम

झांक के देखो सीने में
धधक रही है आग
बुझा करके इन शोलों को
मत लगवाना दाग
चिंगारी है हर सीने में, 'फकीर' यों ही बदनाम

प्यार चीज है ऐसी
सुलझा देता हर तकरार
जितने पौधे उगते इसके
उतने कम होते हथियार
प्यार बांटने का कोई लगता नहीं है दाम

कांटे हटाने में जिनके
हाथ छलनी हो गए
वो सितारे जो चमकने
से पहले खो गए
उन सितारों को करो, तुम शाम से सलाम

सम्पर्क: 9466818345

लघु कथा

विजयदान देथा

बनिए का चाकर

किसी एक सुहानी वर्षा की बात है कि बादलों की मधुर-मधुर गरज के साथ झमाझम पानी बरस रहा था। चौक वाली बरसाली में सेठ जी के पास ही उनका नौकर मौजूद था। पानी बिना रुके बह रहा है और यह ठूँठ की तरह खड़ा है, कैसे बर्दाश्त होता!
चौक में पत्थर की पनसेरी पड़ी थी। सेठ जी इसी चिंता में खोए थे कि नौकर को क्या काम बताया जाए। यह तो मालिक की तरह ही आराम कर रहा है!
पनसेरी पर नजर पड़ते ही तत्काल उपाय सूझा, चाकर की तरफ मुँह करके हुक्म सुनाया, 'खड़ा-खड़ा देख क्या रहा है, यह पनसेरी अन्दर ले आ, बेचारी पानी में भीग रही है।'

भारत में कृषि एवं सिंचाई व्यवस्था

राकेश कुमार मालवीय/भोपाल

हमारी खेती की हालत तीन सौ बरस पहले ऐसी नहीं थी, जैसी कि आज है। बताया जाता है कि अकेले भारत और चीन मिलकर दुनिया का आधे के बराबर अन्न उपजा लेते थे। यह कमाल कोई दस बीस बरस का नहीं था। तकरीबन हजार साल की सभ्यता ने भारतीय समाज की जिंदगी बिताने के सबक दिए। वो भी उस दौर में जबकि तकनीक उतनी उन्नत नहीं थी, संसाधन इतने अधिक नहीं थे।

आखिर बीच की एक दो सदियों में ऐसा क्या हो गया कि आज वही किसान जो सबसे ज्यादा सम्पन्न और खुशहाल था, वे आत्महत्या कर रहे हैं। एक-दो नहीं, सैंकड़ों कर रहे हैं। आखिर ऐसा क्या हुआ कि सभी धंधों में उत्तम मानी जाने वाली खेती की दशा आज सबसे दीन-हीन हो गई है। कौन से पैटर्न बदल गए जिनकी वजह से आज सबसे ज्यादा बदहाल स्थिति में कृषि है। रिपोर्ट बताती है कि 2002 के बाद हर आधे घंटे में एक किसान खुद ही अपने को मौत के मुंह में धकेल रहा है। भयावह है यह सच्चाई।

बावजूद इसके हमारा विश्वास ऊंचा है। इस साल अब आम बजट के पहले देश की आर्थिक समीक्षा की रिपोर्ट पेश की गई तो उसके पहले ही अध्याय में इसकी झलक देखने को मिली।

रिपोर्ट के अनुसार, इस वर्ष आर्थिक समीक्षा ऐसे समय पर आ रही है जबकि अंतराष्ट्रीय स्तर पर असामान्य खलबली मची हुई है। निराशा से भरी इस पृष्ठभूमि में भारत स्थिरता और अवसरों की आश्रय स्थली प्रतीत होता है।

खेती का परम्परागत तरीका

खेती का मुख्य आधार है जल। किसी भी सुविधा से पहले पानी का प्रबंधन सबसे ज्यादा जरूरी है। हमारे बुजुर्गों ने इसके लिए उत्तम व्यवस्था की थी। बताया जाता है कि अंग्रेजों के आने से ठीक पहले तक भारत के मैसूर राज्य में अकेले ही तकरीबन एक लाख तालाब थे। और अंग्रेजों के देश से चले जाने तक भी देश में तकरीबन-तकरीबन हर एक गांव में औसतन एक तालाब तो था ही। यह तालाब उस वक्त खेती के लिए सिंचाई और पीने के पानी के सबसे बड़े जरिया थे, साथ ही एक तरह के आपदा प्रबंधन के लिए भी उनका एक वैज्ञानिक तरीका था। बाद के बरसों में भी पर्यावरणविदों ने इन तालाबों की महता को स्थापित कर यह बताया कि यह न केवल स्थानीय जरूरत, स्थानीय विज्ञान और स्थानीय मान्यताओं के अधिवाहक हैं, बल्कि वह किसी भी तरह के बड़े विनाश से बचाने वाले भी हैं। पर्यावरणविद अनुपम मिश्र ने अपनी किताब 'आज भी खरे हैं तालाब' में इस पूरे विज्ञान का बेहद खूबसूरत वर्णन किया है। कुछ लोगों ने करके भी दिखाया है। उसके पुराने और नए सभी तरह के प्रयोग हैं। वह राजस्थान के अलवर में भी हैं और मध्य प्रदेश के देवास में भी। दक्षिण भारत के इलाकों में तो यह परम्परा गांव-गांव की इकाई से भी छोटी घर-घर की इकाई में मौजूद है। इसकी सबसे बड़ी सीख यही है, पानी पर अपनी निर्भरता। लेकिन इसको तवज्जो नहीं मिली। हमने हरित क्रांति के लिए कुछ और रास्ते अपनाए।

हरित क्रांति के बाद खेती

देश में खेती का रूप बिगड़ने का काम तो हमने स्वयं ही किया। आजादी के बाद से सिंचाई के लिए हमने जो परियोजनाओं और हरित क्रांति के नाम पर जिस तरह के विकास को अपनाया, उस पर तमाम बहस और विरोध सामने हैं। केवल गैर सरकारी संगठनों या लोगों का ही विरोध नहीं, इसकी एक मिसाल तो आर्थिक समीक्षा में ही देखने को मिल जाती है, जो पूरी तरह से एक सरकारी दस्तावेज है। इसके मुताबिक भारतीय कृषि एक तरह से अपनी ही विगत की असफलता विशेष तौर पर हरित क्रांति का शिकार हो रही है। यह अन्न केंद्रित बन गई है।

गौर करने वाली बात यह है कि तमाम हरित क्रांतियों के बावजूद भारत का साल 2013 में गेहूं का उत्पाद 3075 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर था। यह विश्व के 3257 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर के उत्पादन से कम है। इसी तरह धान का उत्पादन देखा जाए तो सभी राज्यों में इसकी उपज चीन के मुकाबले कम है और अधिकांश राज्यों को देखा जाए तो यह छोटे से राज्य बांग्लादेश के औसत उत्पादन से भी कम है। भारत में सबसे ज्यादा धान पैदा करने वाले राज्य पंजाब में भी चीन से कम उत्पादन हो रहा है।

हम भले ही 2013 में गेहूं के उत्पादन में अमेरिका के गेहूं उत्पादन से साठ प्रतिशत अधिक पैदावार कर रहे हों, लेकिन इसका एक खामियाजा यह भी है कि दालों के उत्पादन में हम बहुत पीछे हैं।

जबकि स्वास्थ्य के नजरिए से दालें प्रोटीन प्राप्त करने का एक बड़ा जरिया है। देखा जाए तो दालों की इसी कमी ने कहीं न कहीं जमाखोरी को बल दिया है। इसका सीधा असर हम देशवासियों के स्वास्थ्य पर पड़ रहा है। लेकिन हम प्रोत्साहित उन फसलों को अधिक कर रहे हैं, जिनमें पानी की ज्यादा खपत होती है, जैसे कि गन्ना।

अध्ययन बताते हैं कि हम जिस तरह से अपनी खेती में जल का उपयोग कर रहे हैं, वह दुनिया के कई देशों की तुलना में अधिक है।

हमारे यहां हरित क्रांति के बाद सिंचाई का अधिकांश हिस्सा या तो नहरों के द्वारा हो रहा है या फिर नलकूपों का। इन दोनों ही प्रणालियों में जलमग्न प्रणाली के जरिए होता है। नहरों के जरिए होने वाली इस सिंचाई पद्धति में ज्यादा पानी खर्च होता है। एनएएसए द्वारा जारी रिपोर्ट द्वारा जारी रिपोर्ट में बताया गया है कि भारत का जलस्तर 0.3 मीटर प्रति वर्ष की दर से नीचे गिर रहा है।

राष्ट्रीय सूक्ष्म सिंचाई मिशन कृषि मंत्रालय की रिपोर्ट कहती है कि देश के 13 राज्यों में 64 जिलों में टपका सिंचाई पद्धति के परिणाम काफी अच्छे रहे हैं। इसमें जल का उपयोग बेहद कुशलतापूर्वक होता है। इसमें पानी की बर्बादी बहुत कम होती है और उर्वरकों का उपयोग भी अच्छे से होता है। इसके परिणामों में पाया गया कि गेहूं की फसल 45 प्रतिशत, चने की फसल 20 प्रतिशत तथा सोयाबीन की फसल में 40 प्रतिशत की बढ़ौतरी हुई है।

कहने का अर्थ यह है कि सिंचाई सुविधा के जरिए भले ही हम हरित क्रांति की बात कर रहे हों, लेकिन इसमें कुछ और भी चीजों का देखा जाना जरूरी है। देखा यह जाना चाहिए कि कम से कम संसाधनों को लगाकर अधिक से अधिक प्राप्त करने की नीति हो। जाहिर तौर पर इसमें पानी एक बड़ा संसाधन है। पानी का बेहतर प्रबंधन जाकर उर्वरकों की उपयोगिता से जुड़ता है और पानी केवल कृषि के लिए ही नहीं है। यह सभी की जरूरत है। होना यह भी चाहिए कि खेती से जो उपजाया जा रहा है, उसको स्वास्थ्य, आजीविका और खाद्य संस्कृति से भी जोड़कर देखा जाना और फिर उसे नीति में शामिल किया जाना चाहिए। होना यह भी चाहिए कि स्थानीय संसाधनों और आत्मनिर्भरताओं को प्रोत्साहन मिले। बड़ी संरचनाओं की जगह छोटी संरचनाओं पर अधिक ध्यान देना चाहिए, ताकि उसमें प्राकृतिक संसाधनों का कम से कम विनाश हो। ●●

साभार - सोपानस्टैप जून 2016

भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में 1857 व गदर-लहर दो महत्त्वपूर्ण सशस्त्र विद्रोह रहे हैं। दिलचस्प बात ये है कि दोंनों में हरियाणा क्षेत्र की उल्लेखनीय भूमिका रही है। सिंगापुर में गदर लहर की प्रेरणा से '15 फरवरी 1915 को पांचवीं लाईट पलटन' द्वारा विद्रोह किया गया। इस विद्रोह को कुचल दिया गया। गिरफ्तार किए गए 41 शूरवीरों को गोली मारकर शहीद कर दिया गया। तीन को फांसी दी गई और अनेकों को उम्र कैद और अन्य सख्त सजाएं सुनाई गईं। वरियाम सिंह संधू ने नौ दशकों से गुमनाम रहने वाले उन शहीदों/शूरवीरों की सूची प्रस्तुत की है, जिसे हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। इस सूची में हरियाणा क्षेत्र के लोग विशेषकर मुसलमान काफी संख्या में हैं। यह सूची इस आम धारणा पर पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित करेगी कि स्वतंत्रता आंदोलन में हरियाणा की भूमिका अपेक्षाकृत कम रही। सं.

सिंगापुर की गदरी फौजी बगावत के शहीद

लेखक वरियाम सिंह संधू, अनुवाद रामपाल

(क) सरेआम गोली मारी गयी

क्र.	नाम	पिता का नाम	घर का पता
1.	अब्दुल गनी खान	सैद खान	जाटूसाना, गुड़गांव
2.	अब्दुल गनी खान	सैदू खान	कालूवास, जींद
3.	अहमद खान	मक्खन खान	बुरटाना, हिसार
4.	इनायत	बाली मोहन खान	---
5.	इब्राहिम	नाजर खान	जमालपुर, हिसार
6.	इब्राहिम	छैलू जाट	तुरानी, रोहतक
7.	इम्तियाज अली	गुलाम रसूल खान	---
8.	इस्माईल	मक्खन खान	बैन्सी, रोहतक
9.	उमराओ अली	मक्खन खान पठान	करमपुर, गुड़गांव
10.	गफ्फार अली खान	हाकिम खान	पाटेन, हिसार
11.	चिश्ती खान	मुस्सल खान	किरावड, हिसार
12.	जमालुदीन	बख्श खान	जटौली, गुड़गांव
13.	डुंडे खान	खान मोहम्मद खान	बाजपुर, गुड़गांव
14.	ताज मोहम्मद खान	गुलाम मोहम्मद खान	बनियानी, रोहतक
15.	नत्थ खान	दारी खान	कुसिनी, मुजफ्फरपुर
16.	नवाब खान	हैदर खान	तुसानी, हिसार
17.	नियाज मोहम्मद	अली अकबर खान	कन्हौड़, रोहतक
18.	निशान अली खान	मजहर खान	रोड़, करनाल
19.	नूर मोहम्मद	मक्खन लाल	जाटूसाना, गुड़गांव
20.	फजल अली	कबीरा खान	चांग, हिसार
21.	फिरोज खान	अल्लादित्ता खान	खेड़ी, नांगल
22.	फैज मोहम्मद	रहीमअली खान	समा गोपालपुर
23.	बशारत अली	रनमस्त खान	बल्लिया अली, हिसार
24.	बकर अली	उमेद खान	गजराम, हिसार
25.	भूरे खान	फैज खान	राजपूत परतल, नाभा
26.	मुंशी खान	मजहर खान	जमालपुर, हिसार
27.	मुराद अली खान	करम अली खान	जमालपुर, हिसार
28.	मोहम्मद बख्श	जान मोहम्मद खान	जमालपुर, हिसार
29.	रसूल अली	--	--
30.	रहमत अली	लखमीर खान	झोबड़ी, रोहतक
31.	रहीम दाद	गफ्फार खान	चन्ही, हिसार
32.	रुकुन-ऊ-दीन	फारिक खान, जाट	कनी, रोहतक
33.	लाल खान	करीम बख्श चौहान	गुजरानी, हिसार
34.	सैयद मोहम्मद	लश्करी खान	बैयाली, हिसार
35.	रफी मोहम्मद	अमर अली खान चौहान	जाटूसाना
36.	सम्मद खान	सहजाद खान	चौधरीवास
37.	शमसुद्दीन खान	-5	बनियानी, रोहतक
38.	सुलेमान खान	रसूल खान	बलनाली, हिसार
39.	सुलेमान खान	इमानुदीन खान	गढ़ी, रोहतक
40.	सुलेमान खान	मेहबूद खान	कहनौड़, रोहतक
41.	हाकिम अली	--	--

फांसी

1.	मोमन	अस्ता खान	बस पटियाला
2.	रफी मोहम्मद	नवाब अली खान	कलानौर, रोहतक
3.	शामुदीन	मनिउदीन	मेहम, रोहतक

(फाइल नं. 1916 कॉन्फिडेन्सियल नं. 18/1916 होम 1917 पोलिटिकल ए, नवम्बर.75) पी.ए. सेक्शन आरकाइव्स आफ इंडिया, न्यू देहली फाइल नं.

76 (मैनुस्क्रिन्ट-हिन्दी), पृष्ठ 12-14, स्रोत-प्रो. फूल चंद जैन

कैद की सजा

जिन 44 सैनिकों की सूची ऊपर दी गई है, उनको मौत की सजा सुनाई गई। बाकी जिनका कोर्ट मार्शल हुआ, उन्हें अलग-अलग कैद की सजा दी गई। जिनमें सभी मामलों में बामशक्कत कैद हुई। ये सजाएं 16 मार्च 1915 को सुनायी गई और उसके बाद मैजिस्ट्रेट ने 23 मार्च 1915 को उनका तबादला अलग-अलग जेलों में करने का हुक्म दिया। इनमें से 50 को हजारीबाग (तब बिहार में और आजकल झारखंड में) जेल भेजा गया और बाकी को मुजफ्फर (बिहार) और दूसरी जेलों में भेजा गया।

क्र.	नाम	पिता का नाम	घर का पता
1.	मुबारक अली खान	करम अली खान	चौधरीवास, हिसार, अड़ाह
2.	जाफर अली खान	युसुफ खान	कहनौड़, रोहतक, दरभंगा
3.	उमाराओ अली	मक्खन(मुबारक अली खान)	जमालपुर हिसार
4.	अलिदाद खान	सिकंदर खान चौहान	निगाना, हिसार
5.	जहूरली खान	उमाओ अली चौहान	किरावड़, हिसार
6.	हिमायत अली खान	फैज मोहम्मद खान	जाटूसाना, गुड़गांव
7.	दीदारा	रहीमअली खान	परतल, नाभा
8.	जफर अली खान	रहीमअली खान	खतौली, गुड़गांव
9.	अब्दुल गफार	अब्दुल्ला खान	परतल, नाभा स्टेट
10.	शेर मोहम्मद खान	गफूर खान	नंगला गुड़गांव
11.	फूल खान	करीम बख्श खान	मटसाना
12.	वली मोहम्मद खान	नियाज मोहम्मद	जाटूसाना, गुड़गांव
13.	मखमूल	अलीबख्श खान	नंगला, गोपालपुर
14.	मुजफ्फर खान	सिकंदर खान	जाटूसाना, गुड़गांव
15.	हाकिम अली	मरदान खान	सुरगांव, अलवर
16.	रहीम दाद	समदल खान	जाटूसाना, गुड़गांव
17.	फरीद बख्श	शहजादा	शोरी, पटियाला
18.	जमालुदीन	खण्डे खान	हिसार
19.	नसरा खान	कमरदी खान	उरानी कलां, करनाल
20.	नजरा खान	कमूरदीन खान	उराना खुर्द, करनाल
21.	जलाल खान	शबजाद खान	बरसल, करनाल
22.	दोस्त मोहम्मद खान	गुलाम अली खान	बनियानी, रोहतक
23.	मनअवर-अली-खान	मकमूल	गोधा, रोहतक
24.	फतेह मोहम्मद खान	जहांगीर खान	बलियाली, हिसार
25.	गफूर खान	जीवन खान	बलियाली, हिसार
26.	शफी मोहम्मद खान	कलीमउल्ला खान	कहनौर, रोहतक
27.	शेखावत खान	गुलाम रसूल खान	बलियाली, हिसार
28.	असगर खान	अल्ला बख्श खान	सतीरा हिसार
29.	शेर मोहम्मद	अल्ला दाद खान	जाटूसाना, गुड़गांव
30.	करीमुदीन खान	इमाम अली खान	परतल, नाभा
31.	खुदा बख्श खान	मखु खान	दोना कलां, हिसार
32.	नूर मोहम्मद खान	सैदू खान	खेड़ी, रोहतक
33.	दोसत मोहम्मद खान	दीदार बख्श खान	कहनौर, रोहतक
34.	फैज मोहम्मद खान	नवाब अली खान	रटोरा, हिसार
35.	मोहम्मद रशीद खान	शमशेर खान	खेड़ी, गुड़गांव
36.	अली मोहम्मद खान	अशरफ खान	खतौली, गुड़गांव
37.	नूर मोहम्मद खान	गुलराम हुसैन	खबासा, हिसार
38.	अब्दुल गफ्फार खान	लखमीर खान	हाजीपुर, हिसार
39.	दोस्त मोहम्मद खान	उमदा खान	जमालपुर, हिसार
40.	अरशद खान	अहमद खान	चूहड़, गुड़गांव
41.	शफी मोहम्मद खान	महबूब अली खान	खेड़ी मंगल, गुड़गांव
42.	फजल अजीम खान	अबदुल्ला खान	बलियाली, हिसार
43.	अब्दुल खान	नजहर खान	बलियाली, हिसार
44.	सिलारू खान	मीर बख्श	जमालपुर, हिसार
45.	महफूज अली	गुलाम रसूल खान	बलियाली, हिसार
46.	मोहम्मद खान	रसूल्ला खान	बलियाली, रोहतक
47.	अल्लाह बख्श	अबदुल खान	रसधान, अलवर
48.	कासिम अली	इमाम अली खान	खतौली, गुड़गांव
49.	जान मोहम्मद	नबी खान	खानेकी, हिसार
50.	हाशिम अली खान	अरशद खान	कलानौर, रोहतक
51.	ताज मोहम्मद	सूजावल खान	--
52.	जान मोहम्मद	मौला बख्श	--
53.	मजहर खान	किनला खान	चांग, हिसार
54.	ताज मोहम्मद	सफदर खान	खानिक, हिसार
55.	मकसूद	फयाज खान	धूलकोट, गुड़गांव
56.	जफर अली खान	करीब बख्श खान	कालुवास, जींद
57.	फजल अली	सिपाही खान	खाग, हिसार
58.	नियाज मोहम्मद खान	मसकीन खान	चांदी, रोहतक
59.	करम खान	मरदान खान	निगाना, रोहतक
60.	चिशती खान	मरदान खान	चांदी, रोहतक
61.	इमामुदीन खान	मुश्ताक खान	नागल, रोहतक
62.	मरदान खान	नौरंग खान	परतल, नाभा
63.	नूर मोहम्मद	कलंदर खान	जाटूसाना, रोहतक

बीस साल के कालापानी की सजा-9

64.	मुबारक अली	खूब अली खान	जाटूसाना, गुड़गांव
65.	सुलेमान खान	मो.	इसमाईल खानफतेह कपूरवा
66.	गफ्फार खान	करीब बख्श खान	पाटन, हिसार
67.	मुघाली खान	महबूब खान	बलियाली, हिसार
68.	नजर मोहम्मद खान	दोस्त मोहम्मद खान	तलाई, रोहतक
69.	मज्सद खान	बलिदाद खान	सिवानी, हिसार
70.	नजर मोहम्मद खान	--	परकाल, गुड़गांव

71. फतेह मोहम्मद खान नियाज मोहम्मद खान बनियानी, रोहतक
72. नजर अली खान जमारदी खान चाग, हिसार

पंद्रह साल के लिए कालापानी की सजा-25

73. भूरे खान नबी बख्श खान दागकिला, हिसार
74. चांद खान अहमद खान चौहान दागकिला, हिसार
75. करीब बख्श अशरफ खान शिवानी, हिसार
76. काले खान मोहम्मद यार खान तिलाया बरेली
77. अबदुल खान रुकान खान गोपालपुर, गुड़गांव
78. अबदुल गफ्फार खान नियाज मोहम्मद खान गुड़गांव
79. अलादीन खान सिकंदर खान जाटूसाना, गुड़गांव
80. रमजान इंदु नौरंगपुर, रोहतक
81. निहाल भुरू दिधाल, रोहतक
82. कबूल मिराली नौरंगपुर, रोहतक
83. वाहिद अली खान फायल मोहम्मद खान जकबोला, रोहतक
84. अता-मोहम्मद खान फायज मोहम्मद खान जकबोला, रोहतक
85. शेर मोहम्मद तलवार खान चांच, रोहतक
86. ताज मोहम्मद अहमद खान खनिक, हिसार
87. बरकत निवाद अली खान जमालपुर, हिसार
88. भूरा नूर मोहम्मद खान परतल, नाभा
89. हिमायत अली खान नवाब अली खान किराना जींद
90. रहीम दाद खान मेहद खान भान, रोहतक
91. नाजिर खान करीम खान पाटन, हिसार
92. बशारत खान मरदान खान शिवानी, हिसार
93. मुंशी खान हुसैना गुजरानी, हिसार
94. अबदुल गनी खान जान मोहम्मद खान जमालपुर, हिसार
95. रहमतुल्ला खान जमरादीन खान चांग, हिसार
96. कुतबी खान अशरफ खान खतौली, गुड़गांव
97. वली मोहम्मद खान भोला खान डांग कलां, हिसार

बीस साल के लिए कालापानी की सजा-34

98. गुलाम रसूल खान शाह मोहम्मद पठान खान गुरिआनी रोहतक
99. मोहम्मद अली अली बख्श राजपूत खान निगारा, रोहतक
100. रमजान मीरला जाट परूंडा, रोहतक
101. मन्जूर अहमद खान इजाज मोहम्मदखान
102. सुभान खान हुसैन खान तितरां, सहारपुर
103. मोहम्मद सिद्दकी काली खान गुरिआनी, रोहतक
104. जूंद बाऊ मुरदार की झोनी
105. अबदुल रजाक खान निजाम मोहम्मद खान जकबाला, रोहतक
106. ताज मोहम्मद खान रहमतुल्ला खान निगाना, रोहतक
107. सुलेमान खान रसूल खान बनिआनी, रोहतक
108. ताज मोहम्मद खान करीम अली बनिआनी, रोहतक
109. फयाज मोहम्मद खान महबूब खान गुरिआनी, रोहतक
110. माना खुदा बख्श चंदौल, रोहतक
111. इनायत खान बदलू दीनपुर, दिल्ली
112. अबदुल अली खान सांवल रोशनपुरा, दिल्ली
113. रुकनूदीन ढलसारा दादू, रोहतक
114. इमाम बख्श गुलाम हुसैन खान खणिक, हिसार
115. हुसैन अली खान बुलंद बख्श तलवंडी, रोहतक
116. अफजल खान मुजफ्फर खान डांशी, रोहतक
117. मकसूद खान गफूर खान परतल, नाभा
118. शेर खान मुरादअली खान बलिआनी, हिसार
119. जब्बर खान शमदाखा शीशवाला, हिसार
120. कुतबी मजहर खान चांदी, रोहतक
121. फजल अली खान करम बख्श खान पड़तल, रोहतक
122. मुराद अली खान महताब अली खान असंध, रोहतक
123. निजाम मोहम्मद खान मुस्तकीन खान मुरांदी, रोहतक
124. यासीम खान अशरफ अली खान बलिआनी, हिसार
125. अल्लाह बख्श खान जांडी खान पाटन, हिसार
126. सोहराब अली खान नबी बख्श खान खतौली, गुड़गांव
127. तोज मोहम्मद खान मुस्सल्लम खान बनिआनी, रोहतक
128. जफर अली खान यूदे खान सान्याल, रोहतक
129. नियाज मोहम्मद खान गुलाम अली खान कहनौर, रोहतक
130. नूर मोहम्मद खान नवाब खान महम, रोहतक
131. करीम बख्श खान नवाब अली खान खेड़ा, हिसार

बीस साल के लिए कालापानी की सजा

132. शाह मोहम्मद खान साहबजादा खान खंडारा, रोहतक
133. इनायत अली खान गमीं खान ताला, रोहतक
134. नाजिर फैज मोहम्मद खान परतल, नाभा
135. कुतबी खान फैज अली खान चांदी, रोहतक
136. फिरोज इमाम अली खान निगाना, रोहतक
137. मोहम्मद जामिल खान रणजीत खान गुरिआनी, रोहतक
138. मोहम्मद रजाक खान दीदार खान खेड़ी, गुड़गांव
139. मकसूद अली खान जमाल खान खेड़ी गुड़गांव
140. होशियार अली खान मुराद अली खान बलिआनी, हिसार
141. सैद मोहम्मद नूर मोहम्मद भट्टातंदूवास

पांच साल की बामशक्कत कैद की सजा-3

142. इब्राहिम खान रहीम बख्श खान बधावा राजपूत रतीक, करौल
143. ईदी बहारू बिगल, रोहतक
144. ख्वाजा एम.खान फैजूदीन गुरिआना, रोहतक

तीन साल की बामशक्कत कैद की सजा–2

145. सौदागर खान	फैज मोहम्मद खान	चांग, हिसार
146. आमिर अली खान	काले खान	हिरका, पटियाला

दो साल की बामशक्कत कैद की सजा–9

147. अबदुल समद खान	सबदौल खान	जाखल, रोहतक
148. जमाल	समीर खान	जमालपुर, हिसार
149. रहीमुदीन	कलंदर खान	जमालपुर, हिसार
150. नूर मोहम्मद खान	आमिर खान	खेड़ी, गुड़गांव
151. भोपाल खान	पिंजारी खान	सिपोर, हिसार
152. अबदुल सत्तार खान	गुलाम हसन खान	सबसियावास, रोहतक
153. अली मोहम्मद खान	मोहम्मद अली खान	बहादुरगढ़, रोहतक
154. मोहम्मद खान	फजल अहमद खान	जखोला, रोहतक
155. मोहम्मद सादिक खान	गुलाम मोहम्मद खान	झंडा नगला सहारनपुर

दस साल की बामशक्कत कैद की सजा–4

156. नियाज मोहम्मद	फैज मोहम्मद खान	करोड़ी, रोहतक
157. सुंदर–2	मोहम्मद	घरसुल हिसार
158. रहमतुल्ला	फैज मोहम्मद	भलालवाल, लुधियाना
159. इसमाईल	मोहम्मद	मोहल्ला तलियाली, लुधियाना

सजा कितने दिन की हुई, यह पता नहीं–2

160. भोपाल खान	भीखा खान	शिवानी, हिसार
161. नूर मोहम्मद खान	कलंदर खान	जाटूसाना, रोहतक

बरी किया गया–1

करीब बख्श	खुदा बख्श	कवासपुर, रोहतक

स्रोत –स्वतंत्रता सैनिक ग्रंथ माला (हिन्दी), 19.3.2011, फूल चंद जैन, 1998, इंस्टीच्यूट ऑफ सोशल साइन्सेस, नई दिल्ली, खंड–5, पृष्ठ–110–121. ●●

गदर की गूंज

मजहबी झगड़ियां ते तुसीं जोर पाया,
कीता देश दा नहीं धियान वीरो।
तुसां भोलियो मूल ना खबर लगी,
झगड़ा घड़िया वेद कुरान वीरो।
देश पटिया तुसां दे झगड़ियां ने,
तुसीं समझदे नहीं नदान वीरों।
मन्दर मसजद तुसां दे ढैण लगे,
केहड़ी गल दा तुसां गुमान वीरों।
खोहे तुसां दे करदे करपान वीरो,
खोहे तुसां दे करदे करपान वीरो।
गऊ सूर दी तुसां नू कसम भाई,
गोरे रोज ही इहनां नूं खाण वीरों।
हिन्दू मुसलमानों झगड़ा छड देवो,
लवो देश ते कम्म नूं जान वीरो।

●

सानू लोड़ ना पंडता काजीआं दी,
नहीं शौक है बेड़ा डुबावने दा।
जप जाप दा वक्त बतीत होइआ,
वेला आ गया तेग उठावने दा।

●

हिन्दू ते मुसलमान सिक्ख तध बंगाली सारं,
भारत दे पुत असीं सारे ही कहांमदे,
सरहां ते मजहब जेहड़े रख लौ कनारियां ते,
देखी जाऊ पिछों कम्म पैहलां कतलाम दे।

●

छूत छात का कोई खिआल नाहीं,
सानू परख ना चूहड़े चमार वाली।
हिन्दुस्तान वाले सारे हैन भाई,
रीत रखणी नहीं मकार वालीं।

●

पैदा होईके इक ही देश अन्दर,
भैड़ा कम्म फड़िया धड़े बंदीयां दा।
छूत–छात अन्दर ऊच नीच बणके,
उल्टा कम्म कीता फिरके बंदीआं दा।
गिआ देश दा भुल प्यार सानूं,
होया असर जो मुहबतां मंदीआं दा।

●

साभार : गदरी बाबा कौन थे, लेखक वरियाम सिं संधू (अनुवाद रामपाल) गार्गी प्रकाशन दिल्ली

'लोकनाद' का पैगाम : अनुभव व सबक

मोहन रमणीक

24 अप्रैल 2016 को रोहतक के डेंटल कॉलेज ऑडिटोरियम में अहमदाबाद की संस्था 'लोकनाद' से चारुल और विनय की गायक जोड़ी ने 'सप्तरंग' द्वारा आयोजित प्रोग्राम में उपस्थित लोगों के बीच गाए अपने गीतों से बहुत कुछ साबित कर दिया। वाद्य-यन्त्र के नाम पर बस एक डफ, हाथों से बजते घुंघरू, और गीतों में अभिव्यक्त भावना के मुताबिक गले से निकलते स्वर के उतार-चढ़ाव इस से अधिक कुछ नहीं चाहिए लोगों तक संगीत के माध्यम से अपना सन्देश पहुंचाने के लिए। जो असर ये गीत छोड़ गए, वह आम तौर पर कम ही देखने को मिलता है। सब गीतों की विषय-वस्तु हमारे समाज की मौजूदा समस्याओं के इर्द-गिर्द या एक बेहतर समाज की परिकल्पना को अभिव्यक्त कर रही थी। 'मनोरंजन' का कोई सामान नहीं था, फिर भी शायद ही कोई था जो दो घण्टे चले प्रोग्राम से उठ कर गया, और गया भी तो लौटा न हो, क्योंकि जो उठा वह किसी मजबूरी या हाजत के चलते ही उठा। करीब 300 लोगों को बैठाने की सामर्थ्य वाला सभागार लगभग भरा हुआ ही रहा आख़िर तक।

'लोकनाद' के हर गीत के साथ एक संदेश था, लेकिन नैतिकता का पाठ नहीं था, बल्कि दिल को छूने और मस्तिष्क को सोचने पर मजबूर करने वाला,तर्क और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर पहुंचता सन्देश था।

हरियाणा में दो ही महीने पहले हुई हिंसा का शिकार हुए लोगों की याद में दो मिनट के मौन के बाद बात शुरू हुई बच्चों से और स्वतंत्र भारत के पहले सपने से जिस के तहत किसी को भूखा नहीं रहना था, जबकि आज भी हर दिन 4000 से अधिक बच्चे भूख से मरते हैं। पहले गीत के मर्मस्पर्शी शब्द थे

बच्ची है नन्ही सी, सुन्दर है परियों सी
जिस दिन से भूखी है, वो 14 नवम्बर थी

यह गीत गाया गया तो हवा में लहराती बस आवाज थी, डफ और घुंघरू भी नहीं थे। मानो उन का बजना भी उस हिंसा की याद दिलाएगा जिसे हिंसा माना ही नहीं जाता। 16 हजार किसानों द्वारा आत्महत्या और मिलों-कारखानों, शीशा-पटाखा-कालीन उद्योगों, ईंट के भट्ठों-पुलों-सड़कों पर काम करते 2 करोड़ बच्चों की अवस्था को हिंसा के खाते में नहीं जोड़ा जाता। अहमदाबाद के रेल्वे स्टेशन पर रात को सोते, एक प्लेट्फ़ॉर्म से दूसरे तक डंडों से खदेड़े जाने वाले बच्चों के साथ होने वाला व्यवहार भी इस खाते में नहीं आता और न ही यह सच्चाई कि रात को एक बजे के बाद वहां पहुंचने वाली राजधानी एक्सप्रेस का रईसों द्वारा छोड़ा गया खाना उन के लिए भरपेट भोजन की 'पार्टी' है। जहां रात को सोए, सुबह वहीं पर उठना और पूरी थाली भर कर स्वच्छ भोजन खा पाना उन के लिए दुर्लभ है। धरातल पर सामाजिक-विज्ञान के इस सबक से उपजता है लापता बचपन का गीत जिस में बच्चा कहता है-

चाय केतली अब न जाऊं
मैं न हाथ जलाऊं
झाड़ू-पोछा-कपड़ा-बरतन
कभी न करने जाऊं
छोटी-छोटी उंगलियों से
ना कारपेट बनाऊं
कपड़े पर न रंग लगाऊं
न जूते चमकाऊं

कल्पना कीजिए इस गीत की, हेक समेत तीव्र गति पंजाबी लोकसंगीत की टप्पा शैली के एक गीत के रूप में, और आप समझेंगे मनोरंजन और खेल-कूद के लिए लालायित उस बच्चे की भावना-'ओएएएए .... रेती का वो ढेर भी दे दो अपना महल करूंगा/ टिप-टिप करते पानी में मैं छप-छप खूब करूंगा'

हाथों के मूल्य का महत्व तब और गहरा जाता है जब इस गीत के माध्यम से बताया जाता है कि :

'इन्सां पैरों पे खड़े हुए
दो हाथ तभी आज़ाद हुए
इन दो हाथों की मेहनत से
धीरे-धीरे आबाद हुए'

एकलव्य के अंगूठे की अहमियत तब स्पष्ट होती है जब एहसास होता है कि इन्सान और चिम्पैंज़ी के डी.एन.ए. में 98.5 प्रतिशत समानता है। हमारा अंगूठा है जो हमें चिम्पैंजी से अलग करता है। हम अंगूठे को प्रत्येक उंगली से छू सकते हैं, वह ऐसा नहीं

कर सकता। हम मुट्ठी भी बना सकते हैं। हाथ से कुछ भी सृजन करना हो, लिखना, सिलाई, कढ़ाई, बुआई, घर के काम-तो अंगूठे के बिना यह सम्भव नहीं और चिम्पैंजी के चरण से इन्सान के चरण तक पहुंचने में हमें 9 लाख साल लगे, क्योंकि चिम्पैंजी के प्राचीनतम कंकाल 32 लाख साल पुराने हैं, और इन्सान द्वारा बनाए गए प्राचीनतम औजार 23 लाख साल पुराने। लिपि 8000 साल पुरानी है और अपनी विकास-यात्रा में मस्तिष्क और बुद्धिमता का इस्तेमाल करने वाले इस इन्सान ने दुनिया भर में 1,20,000 किस्म के चावल ईजाद किए हैं (भारत में 40,000 तरह के और छतीसगढ़ में 21,000 तरह के)। गीत बताता है कि इन हाथों तथा मस्तिष्क का मालिक, जिस की समृद्ध परम्परा में कबीर जुलाहा और रैदास मोची और बुल्लेशाह का गुरू अराईं किसान भी हैं, आज कहने को मजबूर है।

रहूं क्यूं भूखे पेट रे, कि मेरे लिए काम नहीं
मेरी न जिन्दगी चले कि मेरे लिए काम नहीं

धीमे स्वर में शुरू हुआ गीत इन्सान के हाथों से होने वाले कामों का वर्णन करता, गति पकड़ता,शिखर छूते ऊंचे और फिर मद्धम ऊंचे स्वर तक पहुंचता, हौसले से समाप्त होता है-

लड़ेंगे तब तक रे कि जब तक काम नहीं

अभी आप इस गीत की गायकी के जादू से निकले भी नहीं कि एक नया गीत आता है और उस से पहले, एक सारगर्भित टिप्पणी। एक ओर वे लोग जिनके हाथों को काम करने की इच्छा रखने पर भी काम मय्यसर नहीं और दूसरी ओर वे जिनके हाथों को आग को हवा देने के सिवा कुछ काम नहीं। यहाँ तक कि जिस आग का आविष्कार 14 लाख साल पहले किया गया भोजन पकाने के लिए, जिस दियासिलाई की ईजाद 1856 में स्वीडन में की गई अंधेरे को प्रकाश में बदलने के लिए, कब सोचा होगा उन आविष्कारकों ने कि इन्हीं साधनों को इस्तेमाल किया जाएगा इन्सानों द्वारा इन्सानों को जीवित जलाने के लिए-धर्म के नाम पर, क्योंकि 1985 के अहमदाबाद दंगों के दौरान लिखा गीत कहता है

मंदिर मस्जिद गिरजाघर ने
बांट लिया भगवान को

और इसी के चलते

शैतानों ने डेरे डाले
इन्सानों के भेस में

लेकिन अगली बात प्यार की थी, क्योंकि इन्सान का इतिहास घृणा का ही नहीं मोहब्बत का भी रहा है। ऐसी मोहब्बत का, जिस ने संघर्ष करते हुए सब दीवारों को तोड़ा है। जाति-धर्म-समुदाय की बेड़ियों को फोड़ा है। चारुल-विनय ने यह प्यार का गीत समर्पित किया उन युवाओं को जिन्होंने इन बन्धनों को कुछ न समझ कर एक-दूसरे का साथ देना तय किया। बिछड़े यार को मिलाने की इल्तिजा करता यह गीत दो इन्सानों की बात से और धर्मों, रिवाजों, मुल्कों से ऊपर उठ कर पूरी दुनिया में प्यार की बात पर आ कर समाप्त होता है।

रब्बा यार मिला दे रे
मेरा बिछड़ा यार मिला दे रे
सब को प्यार सिखा दे रे
मेरा बिछड़ा यार मिला दे रे

लोक के नाद का यह 'लोकनाद' सन्देश आशा की बात करते तीन और गीतों पर आ कर सिमटा। सूचना के अधिकार का गीत-

मेरे सपनों को जानने का हक रे
क्यों सदियों से टूट रहे हैं
इन्हें सजने का नाम नहीं

राजस्थान के एक छोटे से गांव देवडुंगरी से शुरू हुए सूचना का अधिकार अभियान का गीत था। उस अभियान का गीत जो अंत में सूचना का अधिकार कानून बनवाने तक पहुंचा। गीत का कमाल यह है कि जानने के हकों की एक लम्बी सूची मात्र प्रतीत होता यह गीत असल में वंचित आमजन की ही नहीं, इन्सान द्वारा पर्यावरण से किए गए खिलवाड़ की भी गाथा है। गीत इस आह्वान के साथ समाप्त होता है कि

अब हक के बिना भी क्या जीना
ये जीने के समान नहीं।

शांति का समय युद्ध के समय से बेहतर होता है' 400 साल पहले अंग्रेज़ दार्शनिक फ्रांसिस बेकन की बात याद दिलाते हुए विनय कहते हैं कि यह बात इसलिए महत्वपूर्ण है कि शांति के दिनों में बच्चे मां-बाप को शमशान ले जाते हैं, युद्ध में मां-बाप बच्चों को। 40,000 साल पुरानी कब्रों में फूलों के अवशेष मिले हैं - यानी मृतकों की देह पर तब भी फूल चढ़ाए जाते थे। आज भी हम मुर्दों पर फूल चढ़ाते हैं, लेकिन जीवित लोगों के लिए बम-गोली-हथियार तैयार रखते हैं। इसीलिए गीत के माध्यम से यह कहना आवश्यक हो गया है कि

'इन लकीरों ने हम को सताया बहुत
इन लकीरों ने हम को लड़ाया बहुत
इन लकीरों ने हम को जलाया बहुत
इन लेकीरों ने हम को रुलाया बहुत
आओ लकीरें मिटा दें'

'लकीरें' यानी दिलों को अलग करने वाली भावनाएं, इन्सानियत को बांटने वाली बातें।

प्रोग्राम का अन्त सभागार में उपस्थित लोगों के हाथों में मोमबत्तियों की रौशनी के बीच गीत 'इन्सान हैं हम' से हुआ।

मंगल ग्रह पर जा कर जीवन तलाशने की बजाए हम इसी धरती पर नवजीवन का संचार क्यों न करें? अपने मसलों के हल निकाल कर जीवन को संवारें। साढ़े चार करोड़ साल पुराने इस ब्रह्मांड में जीवन पनपा साढ़े तीन करोड़ साल पहले और बिना पूंछ का बंदर 50 लाख साल पहले और धर्म की बात करें तो ईसाइयत को 2016 साल हुए हैं, इस्लाम को 1400 साल से कुछ अधिक, सिख धर्म को 550 साल से कुछ अधिक और ऋग्वेदिक काल भी साढ़े तीन हज़ार साल ही पुराना है। यानी पूरे जीवन को एक साल मान लें तो धर्म के नाम का तो मुश्किल से आधे मिनट का समयकाल बनता है। फिर धर्म के नाम पर द्वेष और लड़ना-मरना क्यों?

हिंदू या मुसलमान, सिख हैं,
ईसाई हैं या पारसी हैं हम
प्यार से, ऐतबार से,
आज से कहें इन्सान हैं हम
यहूदी हैं, बुद्ध हैं, जैन हैं,
आस्तिक या नास्तिक हैं हम
चार हों या हज़ार हों
मिल के कहें इन्सान हैं हम।

विनय महाजन और चारुल भरवाड़ा पेशेवर गायक नहीं हैं। विनय आइ.आइ.एम., अहमदाबाद से स्नातकोत्तर, कृषि इंजीनियर हैं और चारुल आर्किटेक्ट हैं। 30 साल हो चले हैं उन्हें लोगों से मिलते, उनके संघर्षों और अभियानों से सीखते, लोगों के बीच ही शोध कार्य करते हुए उन्हीं के गीत स्वयं लिखते और गाते। अच्छी आवाज़ हो, लगन हो, तो मेहनत से संगीत में महारत हासिल की जा सकती है, फिर चाहे औपचारिक संगीत-प्रशिक्षण न भी मिला हो। न्यूनतम वाद्य-यन्त्रों के साथ दिल और मस्तिष्क, दोनों को छू जाने वाले, सरल भाषा के गीत इस 'आधुनिक' दौर में भी गहरा प्रभाव छोड़ सकते हैं। बिना भाषणबाज़ी के, वार्तालाप और बातचीत के माध्यम से लोगों तक असरदार तरीके से बात पहुंचाई जा सकती है। ●●

सम्पर्क : 9729471398

ब्राह्मणवाद के खिलाफ हुई भीम गर्जना

धर्मवीर

29 मई को यमुनानगर जिले का गांव टोपरा कलां गांव क्रांतिकारी जय भीम के नारों से गूंज उठा। जिधर देखिये उधर से जय भीम के नीले झंडों के साथ जोशीले नौजवान,महिलाओं व बच्चों का हुजूम चला आ रहा था। टोपरा कलां में हुआ भीम गर्जना कार्यक्रम आंबेडकर युवा मंच(एवाईएम) की अगुवाई में जनवरी माह से शुरू हुए डा.भीमराव आंबेडकर 125वीं जयंती समारोह की कड़ी का ही एक हिस्सा था। कार्यक्रम में करीब तीन हजार लोगों ने भागीदारी की। जितने पुरुष उतने ही महिलाएं। कार्यक्रम की तैयारियों के लिए एवाईएम के कार्यकर्ता करीब एक महीने से जुटे हुए थे।

कार्यक्रम में डा. भीमराव आंबेडकर के जीवन दर्शन के साथ ही आरक्षण, शिक्षा में जाति व अन्य सामयिक मुद्दों पर विभिन्न वक्ताओं ने गहरा प्रकाश डाला तथा विभिन्न स्थानों से आई सांस्कृतिक टीमों ने बाबा साहब के जीवन संघर्ष पर आधारित विभिन्न गीतों की प्रस्तुति दी। कार्यक्रम की अध्यक्षता युवा संत व लेखक कंवरपाल ब्रह्मचारी ने की।

मुख्य वक्ता के तौर पर देस हरियाणा के संपादक डा.सुभाष चंद्र ने भारत में जाति के इतिहास व जातीय शोषण के विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाला। डा.सुभाष ने कहा कि ब्राह्मणवादी विचारों के पोषक अक्सर जाति को लेकर चली बहस में खुद को हारता देख वर्ण व्यवस्था की वकालत करने लगते हैं। लेकिन वर्ण व्यवस्था ही जाति का आधार है। डा.भीमराव के शब्दों में जाति व वर्ण व्यवस्था उस बहुमंजिला इमारत की तरह है जिसकी एक मंजिल से दूसरी मंजिल तक जाने के लिए कोई सीढ़ी नही है। डा. आम्बेडकर ने जातिविहीन व वर्णविहीन समाज के निर्माण के लिए पूरी जिन्दगी अनवरत संघर्ष किया। डा.सुभाष चंद्र ने जाति उन्मूलन की इस लड़ाई में दो तरीकों को कारगर बताया। पहला तरीका अंतर्जातीय विवाह तथा दूसरा दलितों को जमीन सहित समस्त संसाधनों में बराबर की हिस्सेदारी। जब तक उत्पादन के साधनों में समस्त समाज की भागीदारी नहीं होगी, तब तक खुशहाल समाज का निर्माण संभव नहीं है।

मीडियाकर्मी धर्मवीर ने आरक्षण व्यवस्था को लेकर ब्राह्मणवादी ताकतों द्वारा किए जा रहे दुष्प्रचार पर बोलते हुए कहा कि एक साजिश के तहत ऐसा दुष्प्रचार किया जा रहा है। उन्होंने कहा कि वास्तव में अभी तक दलित व पिछड़ों को आरक्षण का पूरा लाभ मिला ही नही था कि इसे खत्म करने की बात उठने लगी। उन्होंने कहा कि आर्थिक आधार पर आरक्षण या फिर सबके लिए आरक्षण जैसी बातों का मतलब दलितों व पिछड़ों का आरक्षण खत्म करना है। जब तक जाति के आधार पर सामाजिक उत्पीड़न विद्यमान है,तब तक आरक्षण का आधार केवल और केवल जातीय रहना चाहिए। अगर इसमें किसी भी तरह का बदलाव किया जाता है तो नि:संदेह यह दलितों के साथ दगा करना होगा।

जब तक दलित व पिछड़ों को अवसर मुहैया नही होते तब तक मैरिट का आधार ही गलत है। इतिहास में एकलव्य का युद्ध कौशल अवसर नही मिलने के कारण ही खत्म हो गया। यही हाल सेना, न्यायपालिका सहित उन क्षेत्रों में है जहां आरक्षण नहीं है। पदोन्नति में आरक्षण नही मिलने के कारण ही अधिकतर उच्च शिक्षण संस्थानों में एसोसिएट प्रोफेसर व प्रोफेसर के पद खाली है। आरक्षण को लेकर एक दूसरी भ्रांति जो फैलाई जा रही है, वो है मैरिट का पैमाना। एक सोची समझी साजिश के तहत सोशल मीडिया पर ऐसे फोटो

वायरल किए जा रहे हैं जो आरक्षण वालों को मूर्ख व अयोग्य साबित करते हैं। उदाहरण के तौर पर कानों में बिना स्टैथोस्कॉप लगाए बच्चे को जांचते एक डाक्टर को आरक्षण के कोटे से आया हुआ बताना। इसी प्रकार कोलकाता में ढहे एक पुल को भी आरक्षण से आए इंजीनियरों द्वारा बनाया हुआ बताया गया।

गवर्नमेंट कॉलेज अंबाला छावनी से आए प्रो. विनोद कुमार, गवर्नमेंट कॉलेज छछरौली के प्रो.रविकांत, हृदय रोग विशेषज्ञ डा.निर्मल सिंह यमुनानगर, हरियाणा अनुसूचित जाति राजकीय अध्यापक संघ (हजरस) यमुनानगर के अध्यक्ष मा. सतपाल सिंह ने भी बाबा साहब डा.भीमराव के जीवन दर्शन व दलितों से जुड़े विभिन्न मुद्दों पर विचार रखे। कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे संत कंवरपाल ब्रह्मचारी ने शिक्षा में जाति के सवाल पर बहुत विस्तार से बात रखी। उन्होंने हैदराबाद सेंट्रल यूनिवर्सिटी के रिसर्च स्कॉलर रोहित वेमुला की हत्या को ऐसी पहली घटना नहीं मानते हुए बताया कि भारत में सनातन काल से शिक्षा में जातीय भेदभाव रहा है। यही कारण है कि कभी इसका शिकार एकलव्य हुए तो कभी बब्बर भान। उन्होंने कहा कि जब तक शिक्षण संस्थानों का लोकतांत्रिकरण नही किया जाता। तब तक भारत में वास्तविक राजनीतिक लोकतंत्र एक दिवा स्वप्न की तरह रहेगा। उन्होंने कहा कि अब बाबा साहिब का काफिला चल पड़ा है और यह मंजिल पर पहुंच कर ही दम लेगा।

कार्यक्रम में वैचारिक विचार विमर्श के बीच भीम क्लचरल ग्रुप जड़ोदा, मानकपुर और रायपुर रानी की टीमों ने सांस्कृतिक समां बांध कर रखा। कार्यक्रम में विशेषतौर पर पहुंचे बहुजन मिशनरी गायक संजू आरजे व अभिजीत सरोता ने लोगों को क्रांतिकारी भीम गानों पर थिरकने पर मजबूर कर दिया।

सभा को डा. भीमराव अम्बेडकर युवा मंच के प्रदेश अध्यक्ष रामकुमार जैधरी, मोनिका, साहिल सढ़ोरा, राहुल फिरोजपुर, कमल शेखुपुरा, मंच के प्रदेश उपाध्यक्ष राजेश डमौली, रादौर अध्यक्ष मंदीप टोपरा, प्रवीण कुराली, मुकेश रायपुर रानी,आदि ने भी संबोधित किया। ●●

सम्पर्क : 94675-29512

'भीम गर्जना' कार्यक्रम में मुस्लिम छात्रा नुसरत का डा.भीमराव आंबेडकर के जीवन दर्शन पर दिए वक्तव्य को 'देस हरियाणा' के पाठकों के लिए प्रकाशित किया जा रहा है।

आमूल-चूल परिवर्तन की खातिर

नुसरत

बाबा साहेब डा.भीमराव अम्बेडकर जी की 125वीं जयंती के मौके पर मौजूद तमाम लोगों को मैं यहां पर पहुंचने पर खुशामदीद करती हूं, और शुक्रिया अदा करती हूं मेरे गांव के सारे लोगों और साथियों को जिन्होंने इस तरह का प्रोग्राम आयोजित किया। एक बार मौजूद तमाम साथी जोशो-खरोश के साथ बोलिए जय भीम-जय भीम...

बाबा साहेब भीमराव आंबेडकर जी का एहसान केवल एक कौम पर नहीं है, बाबा साहेब ने जो संविधान लिखा और संघर्ष करके जो हमें अधिकार दिलाए उनका एहसान पूरे मुल्क और उसके आवाम पर है। बाबा साहेब ने एस.सी., एस.टी. जमातों के लिए जो कानूनी प्रावधान किए उसी तरह से माइनोरिटी (अल्पसंख्यक) जमातों के लिए भी किए। जिस प्रकार एस.सी.-एस.टी. जमातों ने बाबा साहेब का संघर्ष में साथ दिया उसी प्रकार अल्पसंख्यकों ने भी साथ दिया।

मुझे बताते हुए गर्व महसूस हो रहा है कि बाबा साहेब ने 25 दिसंबर 1927 को जब मनुस्मृति को नजरे-आतिश किया था, उसको जलाया था, तो बाबा साहेब के साथ मुसलमान कंधे से कंधा मिलाकर खड़े थे। जब मनुवादियों ने बाबा साहेब को जमीन न देने की साजिश की तो हमारे पूर्वज, फत्ते खां नामक व्यक्ति ने अपनी निजी जमीन देकर बाबा साहेब के संघर्ष में अपना किरदार अदा किया था।

बाबा साहेब ने केवल जाति विशेष के लिए नहीं, पूरे मूल्क और तमाम दबे-कुचले आवाम के लिए ताउम्र संघर्ष किया। औरतों के लिए बाबा साहेब ने जो कानून बनाए, औरतों को मर्दों के बराबर हक दिए। औरतों को पैर की जूती से सिर का ताज बनाया। इसलिए बहनों, बाबा साहेब का एहसान किसी से भी ज्यादा औरत जात के ऊपर है। अगर आप बाबा साहेब के एहसान और कर्ज को चुकाने लगे तो पूरी जिंदगी गुजर जाएगी। लेकिन बाबा साहेब के एहसान उतर नहीं पाएंगे। याद करो, जब औरतों को न वोट डालने का अधिकार था, न पढ़ने का अधिकार था, न सार्वजनिक जगहों पर जाने का अधिकार था। याद करो जब पांच-पांच मीटर के घूंघट में अपराधियों जैसे मुंह ढक कर चलना पड़ता था। किस ने आजाद करवाया हमें, किस ने आप को आजादी दी, किसने पढ़ना सिखाया, मेरे बाबा साहेब ने। केवल और केवल मेरे बाबा साहेब ने....

मैं आप से पूछती हूं कि आप क्यों पढ़ाई कर रहे हो, आप का जवाब होगा नौकरी करने के लिए, इंजीनियर बनने के लिए, वकील, डाक्टर बनने के लिए, एस.पी., कलेक्टर बनने के लिए... लेकिन मेरे बाबा साहेब ने 23 डिग्रियां ली क्या नौकरी करने के लिए... क्या केवल अपने बच्चे पालने के लिए... क्या आज की तरह केवल टीवी और बीबी के लिए .... नहीं भाईयो और बहनों मेरे बाबा साहेब ने पढ़ाई की तो केवल और केवल अपने समाज को ऊंचा उठाने के लिए... अपने समाज को जगाकर क्रांति करने के लिए... पूरे समाज में आमूल-चूल परिवर्तन की खातिर बाबा साहेब ने तालीम हासिल की थी। लेकिन मेरे समाज के लोग, मेरे भाई-बहन केवल अपने परिवार और केवल अपने लिए पढ़ाई कर रहे है। मुझे ऐसे लोगों पर धिक्कार है...

बाबा साहेब अगर चाहते तो पढ़ लिख कर नौकरी कर सकते थे। अपने बच्चों और औरत को अच्छे मकानों में रख सकते थे। उनकी हर ख्वाइश पूरी कर सकते थे। लेकिन नहीं, उनको अपने बच्चों के साथ-साथ समाज के बच्चों की फिक्र थी। उनके चार बच्चे हमारे लिए कुर्बान हुए, उनकी औरत ने हमारे लिए अपनी शहादत दी... बाबा साहेब के बच्चे और औरत आवाम के लिए कुर्बान हुए हैं... अगर हम बाबा साहेब के नक्शेकदम पर नहीं चलते तो हमें शर्म आनी चाहिए। अपने आप को बाबा साहब का अनुयायी कहने पर.. हमें शर्म आनी चाहिए, कि हम उस शख्स के प्रति फर्ज अदा नहीं कर पाए। मैं मेरी अम्माओं से व बहनों से अपील करती हूं कि वह अपना फर्ज समझें और बाबा साहेब के कारवां के साथ आगे बढ़ें। ●●

सम्पर्क : 92536-81039

राजा राम मोहन राय के सामाजिक सरोकार

बूटा सिंह सिरसा

हरियाणा ज्ञान विज्ञान समिति की सिरसा इकाई द्वारा दिनांक 15 मई 2016 को पटवार भवन सिरसा में एक सेमिनार का आयोजन किया गया। इस सेमिनार की अध्यक्षता श्री हरदयाल बेरी अध्यक्ष हरियाणा ज्ञान विज्ञान समिति सिरसा , श्री हरभगवान चावला सेवानिवृत्त प्राचार्य व श्री उमेद सिंह प्रोफेसर चौधरी देवी लाल विश्वविद्यालय सिरसा ने संयुक्त रूप से की। मंच का संचालन समिति के जिला सचिव श्री करनैल सिंह ने किया। कार्यक्रम की शुरुआत महक भारती व साथियों द्वारा गीत गाकर की गयी। समिति के उपाध्यक्ष श्री गुरबख्श मोंगा जी ने सेमिनार के शुरू में सभी का आभार व्यक्त किया। उन्होंने कहा कि भारतीय विचारकों को याद करते हुए अपनी विरासत को सहेजना व उसको याद करते अपनी भूमिका निभाते हुए समाज सुधार व नवजागरण का कार्य जारी रखना।

मुख्य वक्ता श्री कुलदीप सिंह ने राजा राम मोहन राय के जीवन व उनके सामाजिक कार्यों पर बात करते हुए कहा कि प्रत्येक समाज अपनी समस्याएँ अपने समय के उन्नत दिमाग द्वारा हल करने की कोशिश करता है और जो रोशन दिमाग उस वक्त लोगों की अगवाई करते हैं वही लोगों के नायक कहलाते हैं ऐसे ही नायक थे राजा राम मोहन राय। उनका जन्म बंगाल में 22 मई 1772 को हुआ। नायक अपने समय की परिस्थितियों की ही पैदावार होते हैं। हिन्दू धर्म की कुरीतियों और मूर्ति पूजा के खिलाफ उनका संघर्ष 16 वर्ष की आयु से आरम्भ हो गया तथा उन्हें अपना घर छोड़ना पड़ा लेकिन अपने विचारों पर अडिग रहे। शुरू में वे ब्रिटिश राज के कट्टर विरोधी थे, लेकिन 22 वर्ष की आयु तक पहुंचते उनके विचार बदल गये। लेकिन वे ब्रिटिश राज के अंध समर्थक कदापि नहीं थे। राजा राम मोहन राय ने भी सती प्रथा बाल विवाह आदि कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने अपने समाज सुधार के कार्यों को गति देने के लिए ब्रह्म समाज की स्थापना की। वे समाचार पत्रों की आजादी के प्रबल समर्थक थे व उन्होंने तीन समाचार पत्र मिरात उल अख़बार (फारसी),संवाद कौमुदी (बंगला) व बंगदूत (हिंदी) निकाले तथा अपने विचारों का प्रसार किया। भारतीयों को अंग्रेजी भाषा और यूरोपीय ज्ञान विज्ञान की शिक्षा देने व और सती प्रथा जैसी कुरीतियों पर प्रतिबन्ध लगाने में ब्रिटिश शासकों ने राम मोहन राय को सबसे बड़ा समर्थक पाया। राजा राम मोहन राय के आन्दोलन व प्रचार से सती प्रथा को खत्म करने के लिए लार्ड विलियम बैंटिक ने 1829 में एक सख्त कानून बनाया जिससे इस प्रथा पर रोक लगी। राजा राम मोहन राय ने ब्रिटिश शासकों द्वारा संस्कृत भाषा के प्रचार प्रसार के लिए की जा रही मदद की भी आलोचना की तथा अंग्रेजी भाषा व सभ्यता की तारीफ की जिस कारण भी उनकी काफी आलोचना हुई। वे माडर्न चिकित्सा पद्धति तथा विज्ञान के समर्थक थे उन्होंने इंग्लैण्ड और फ्रांस की यात्रा भी की। 7 सितम्बर 1833 में राजा राम मोहन राय की मृत्यु हो गयी। उनके शुरू किया गया ब्रह्म समाज सामाजिक व धार्मिक आन्दोलन था जिसने बंगाल के पुनर्जागरण को प्रभावित किया।

पंजाबी के सत्कार सभा के जिला प्रधान प्रदीप सचदेवा ने कहा कि भक्ति लहर के संतों की बातें आज भी लोगों के जेहन में हैं इसलिए यह हमारी विरासत है तथा आज भी रूढियों को तोड़ने में इनकी भूमिका हो सकती है। अध्यापक संघ के जिला सचिव ने यंग बंगाल के प्रवर्तक हेनरी लुई विवियन डिरोजियो की उदाहरण देते हुए बताया कि किस प्रकार से उसने हिन्दू कालेज कोलकाता के शिक्षक होते समय विद्यार्थियों की एक एकेडमिक एसोसिएशन बनाई। वे इन विद्यार्थियों की शाम को विभिन्न विषयों पर बहस करवाते थे जो कई बार पूरी रात तक चलती थी। आज के दौर में इस प्रकार की संगोष्ठियों, बहसों व सेमिनारों की बहुत ज्यादा जरूरत है। प्राध्यापक श्री चिमन भारतीय ने कहा कि मोहन राय से प्रेरणा लेते हुए सामाजिक बुराईयों को छोड़ने की पहल अपने घर से करनी होगी जैसे कि मृत्यु भोज न करना व दहेज न लेना। सर्व कर्मचारी संघ के जिला सचिव सोहन सिंह रंधावा ने कहा समाज सुधार आंदोलनों के जरिये जिन सामाजिक बुराईयों से लड़ा गया आज उन्हीं बुराईयों को नये रूप में सनातन

परम्परा / संस्कृति के नाम पर स्थापित करने की कोशिश हो रही है। सेवानिवृत्त प्राचार्य श्री हरभगवान चावला ने कहा कि इस संकटकालीन समय में हमें अपनी भूमिका निभानी होगी उन्होंने मुक्तिबोध के कथन को याद करते हुए कहा कि संकट के दौर में कलाकार नहीं कार्यकर्ता तैयार होते हैं। उन्होंने राजा राम मोहन राय के बारे में बताया कि वे एक साहित्यकार थे तथा उन्होंने पद्य व गद्य दोनों विधाओं में लिखा। उन्होंने बांग्ला में व्याकरण की किताब लिखी जो आज भी बंगाल में पढ़ाई जाती है। एडवोकेट लेखराज ढोट ने कहा कि इस प्रकार के विचार विमर्शों के साथ बुद्धिजीवियों को समाज में लोगों के बीच भी जाना होगा। असली ताकत जनता है तथा जनता के बीच जाकर हम बहुत कुछ सीखते हैं। डा. हरविन्द्र सिंह ने कहा कि हमारे समाज की आधी आबादी महिलाएं हैं उन्हें आज भी दूसरे दर्जे की नागरिक समझा जाता है औरतों को औरत होते हुए अपनी भूमिका तलाशनी होगी। डा. उमेद सिंह ने कहा कि यह अच्छी बात है कि हम अपने उन विचारकों को याद कर रहें हैं जिन्होंने समाज की बेहतरी के लिए काम किया। अंत में ज्ञान विज्ञान समिति के अध्यक्ष श्री हरदयाल बेरी ने समापन करते हुए सभी का धन्यवाद किया उन्होंने आश्वासन दिया कि समिति ऐसे कार्यक्रम निरन्तरता में करती रहेगी। ●● सम्पर्क :

'इसी आकाश में' व 'साडे वेखदियां वेखदियां' का विमोचन

शेरचंद

दिनांक 24 अप्रैल को हरियाणा प्रगतिशील लेखक संघ, सिरसा व पंजाबी लेखक सभा, सिरसा के संयुक्त तत्वाधान से स्थानीय पंजाब पैलेस में एक विशाल साहित्यिक कार्यक्रम का आयोजन किया गया। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता प्रसिद्ध चिंतक श्री मक्खन लाल ने की। कार्यक्रम दो चरणों में सम्पन्न हुआ।

पहले चरण में हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक श्री हरभगवान चावला की पुस्तक 'इसी आकाश में' का विमोचन व पंजाबी कवि श्री दिनेश वशिष्ठ की पुस्तक 'साडे वेखदियां वेखदियां' पर विचार चर्चा की गई। हिन्दी के प्रो. सुभाष चन्द्र (कुरुक्षेत्र) ने 'इसी आकाश में' पुस्तक पर विचार प्रस्तुत करते हुए वर्तमान संदर्भ में साहित्यकार की जुम्मेवारियों, लेखन के सम्मुख चुनौतियों व लोक की भूमिका के बारे में चर्चा की।

डा. हरविन्द्र ने अपने पेपर में 'साडे वेखदियां वेखदियां' पुस्तक को प्रगतिशील लेखन परम्परा का हिस्सा मानते हुए पुस्तक की खूबियों पर विस्तार से चर्चा की। अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में श्री मक्खन लाल ने दोनों पुस्तकों का संक्षिप्त साहित्यिक मूल्यांकन प्रस्तुत किया।

कार्यक्रम के दूसरे चरण में अन्तर्भाषायी कवि दरबार का आयोजन किया गया, जिसमें राजस्थानी के प्रसिद्ध कवि श्री रामस्वरूप 'किसान', मोनिका, मनोज छाबड़ा, सुनील पागल आदि कवियों ने काव्य पाठ प्रस्तुत किया। रविन्द्र प्रीतम, कुलदीप व निर्मल ने विभिन्न रचनाओं का गायन किया। श्री गुरबख्श मोंगा ने सभी अतिथिगणों का धन्यवाद करके कार्यक्रम का समापन किया। ●●

कबीरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ जो घर जालै आपना वो चलै हमारे साथ

20 जून 2016 को कबीर जयंती के अवसर पर 'देस हरियाणा' पत्रिका की ओर से डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल अध्ययन संस्थान,कुरुक्षेत्र में 'कबीर का नजरिया' विषय पर परिचर्चा आयोजित की। इस अवसर पर 'देस हरियाणा' पत्रिका की वेबसाइट desharyana.in का विमोचन प्रख्यात जन साहित्यकार ओमसिंह अशफाक व ओमप्रकाश करुणेश जी ने किया।

परिचर्चा के लिए कबीर साहित्य व दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान डा. सेवासिंह का 'देस हरियाणा' में प्रकाशित लेख 'मैं कासी का जुलहा बूझहु मोर गियाना' पढ़ा गया।

ज्यों वंचितों-पीड़ितों-दलितों में चेतना का विस्तार हुआ, त्यों-त्यों कबीर चेतना का विस्तार होता गया। कबीर मध्यकाल के सर्वाधिक चेतन व क्रांतिकारी रचनाकार के तौर पर स्थापित होते गए। कबीर ने वर्चस्वी विचार के पाखंड की परतों को व्यावहारिक जीवन के अनुभवों से उड़ा दिया था। भारतीय समाज में वैज्ञानिक नजरिये, अंधविश्वास के शोषणकारी चरित्र, श्रम व श्रमिक की गरिमा को प्रतिष्ठित किया। दमनमूलक सत्ता के खिलाफ संघर्षों की विरासत का नाम कबीर है। अहंकार की पोटली बांधकर कोई कबीर-चेतना धारण नहीं कर सकता।

इस परिचर्चा में ओमप्रकाश करुणेश, ओम सिंह अशफाक, डा. महावीर रंगा, डा. रवीन्द्र गासो, इंदर सिंगला, हरपाल शर्मा,सुनील कुमार थुआ, डा. जसबीर सिंह 'भारत', राजेश कासनिया, विरेन्द्र कुमार, इकबाल सिंह, पवन थुआ, कुलदीप कुमार, दीपक राविश, ज्योति, टिंकु, नरेन्द्र आजाद, धर्मेन्द्र सैनी, विपुला ने भाग लिया।

एक त्वचा हाड़ मल मूत्र, एक रूधिर एक गुदा
एक बूंद तैं सब जग उपज्या, को बामण को सूदा।।

पाहन पूजै हरि मिलै तो मैं पूजूं पहाड
तातै यह चाक्की भली, पीस खाए संसार।।

पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ, पंड़ित भया न कोय
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।।

प्रस्तुति : डा. सुभाष चंद्र

सातवाँ आबिद आलमी यादगार मुशायरा

अविनाश सैनी

'आबिद आलमी' ('आबिद' यानी तपस्वी, और 'आलमी' यानी इस दुनिया का), अपना यह तख़ल्लुस यानी कवि-नाम रखा था अपने वक़्त के जाने-माने शिक्षक और हरियाणा में शिक्षक-आंदोलनों के पहली पंक्ति के सिपाही जनाब राम नाथ चसवाल ने। इसी नाम से वे शायरी किया करते थे और इसी शायर की याद में सातवाँ आबिद आलमी यादगार मुशायरा' 19 जून 2016 को रोहतक में हुआ। मुशायरे में चर्चित शायर गौहर रज़ा, कुलदीप सलिल, राणा प्रताप गन्नौरी, के.के.ऋषि, दिनेश दधीचि, सही राम, मनजीत राठी, श्याम वशिष्ठ 'शाहिद' और मनोज सहरावत 'दरवेश' ने हरियाणा भर से पहुँचे श्रोताओं की उपस्थिति में अपने समय और समाज की कड़वी सच्चाइयों पर उम्दा रचनाएँ पेश कीं।

मुशायरे की शुरुआत में आबिद आलमी यादगार कमेटी के संयोजक प्रिंसिपल (सेवानिवृत्त) महावीर शर्मा ने चसवाल साहब के जीवन पर रौशनी डालते हुए उन के बहुआयामी व्यक्तित्व की कई परतें खोलीं। अपने निजी जीवन में बिल्कुल सादा और हर प्रकार के आडम्बर और दिखावे से दूर रहने वाले चसवाल साहब अंग्रेज़ी के समर्पित प्राध्यापक थे। अपने कर्तव्य का पूरी निष्ठा और लगन से निर्वहन करने वाले चसवाल साहब हरियाणा के भिवानी, महेन्द्रगढ़, रोहतक, गुड़गाँव इत्यादि स्थित राजकीय महाविद्यालयों में अध्यापन करने के साथ-साथ हरियाणा राजकीय प्राध्यापक संघ के अग्रगामी संगठनकर्ता भी रहे। जो भी किया पूरे दिल से किया - बेहतरीन प्राध्यापक तो थे ही, उतने ही बेहतरीन संगठनकर्ता और सामाजिक कार्यकर्ता भी थे। वे हरियाणा जनवादी सांस्कृतिक मंच के संस्थापकों में से एक थे और हरियाणा जनवादी लेखक संघ के प्रधान भी रहे। उस समय की जनवादी पत्रिका 'प्रयास' (जो बाद में 'जतन' के नाम से छपी) में वे सम्पादन सहयोगी रहे। भिवानी-स्थित शहीद भगत सिंह अध्ययन-केन्द्र की स्थापना में उन की सक्रिय हिस्सेदारी शैक्षणिक, सामाजिक आन्दोलन में उन के अग्रणी योगदान की एक मिसाल है। महावीर शर्मा जी ने उन की रचनाओं से कुछ पंक्तियाँ भी सब के सामने रखीं -

कुछ बात है कि लौट के सूरज न आ सका
एक बार उस पहाड़ के पीछे उतर के देख।

इस मुशायरे का बहुत ही प्रभावशाली संचालन प्रो. (सेवानिवृत्त) सुधीर शर्मा ने किया। शायरों के परिचय के साथ-साथ उपयुक्त टिप्पणियाँ करते हुए उन्होंने श्रोतागण के लिए मुशायरों के माहौल का समाँ बांधा।

मुशायरे में नए और पुराने,बहुत अनुभवी और कुछ ही सालों से लिखने वाले, दोनों तरह के शायर थे। कुलदीप सलिल जी आबिद आलमी की याद में आयोजित लगभग हर मुशायरे में आते रहे हैं। हमेशा की तरह उन्होंने ध्यान आकर्षित करने वाले शे'र पढ़े

हर समय चढ़ के जो बोले वो नशा अच्छा नहीं
आसमाँ पर ही रहे तो वो ख़ुदा अच्छा नहीं

नए पत्ते पेड़ों पे आते रहे, बड़ी गर्दनों वाले खाते रहे
बुढ़ापा घरों में ठिठुरता रहा, मज़ारों पे चादर चढ़ाते रहे
मौसम का रंग, वक़्त की रफ़्तार देख कर
बदला बयान यारों ने दरबार देख कर

गौहर रज़ा साहब ने अपनी लम्बी नज़्म पढ़ी जो मौजूदा हालात पर एक धारदार टिप्पणी भी है। इसी रचना की शुरुआत और अन्त के हिस्से -

नया लिबास पहन कर ये क्यूँ समझते हो
कि सारे ख़ून के धब्बों को तुम छुपा लोगे
जो बस्तियों को जलाते रहे हो बरसों से
उन्हीं की राख है अब तक तुम्हारे चेहरे पे

लिबास कोई भी हो, तन को ढाँप सकता है
ये ज़हन, सोच, तरीक़े छुपा नहीं सकता
नया लिबास पहन कर ये क्यूँ समझते हो
कि सारे ख़ून के धब्बों को तुम छुपा लोगे

उन्हीं द्वारा पढ़ी गई एक और रचना का यह अंश-

अंधे कुएँ में झूठ की नाव तेज़ चली थी मान लिया
लेकिन बाहर रौशन दुनिया सच तुम से बुलवाएगी

राणा प्रताप 'गन्नौरी' जी ने ये शे'र पढ़े -
तेरी निगाह देखती है बाहर से
मेरा वुजूद तो टूटा हुआ है अन्दर से

मेरी याद्दाश्त दे जाती है धोखा
मेरा रखा हुआ सामाँ न ढूँढ़ा जाए है मुझ से

कौन सुनेगा मेरी नाज़ुक सी आवाज़
दुनिया ज़ोरों से आवाज़ें कसती है
बरबादी में देर नहीं लगती 'राणा'
बस्ती बस्ते बस्ते बस्ती है

'गन्नौरी' साहब ने कालिदास के 'मेघदूत' के एक अंश का अनुवाद भी सुनाया और गायत्री मंत्र का भी और इक़बाल के 'शिकवा' और 'जवाब-ए-शिकवा' की याद दिलाते हुए मुलतानी में ईश्वर से अपने 'शिकवा' के अंश भी पेश किए।

के.के.ऋषि साहब आबिद आलमी के साथ के शायर रहे हैं। उन्होंने पानी की अहमियत पर यह रचना पढ़ी -

जिस जगह भी बिखर गया पानी
जान मिट्टी में भर गया पानी।
फूट निकले हयात [जीवन] के चश्मे
जिस तरफ़ भी, जिधर गिरा पानी।
दे गया पैराहन [लिबास, वस्त्र] ज़मीनों को
शादाब [हरा-भर] कर गया ज़मीनों को।
बिगड़ा माहौल तो ये हाल हुआ
ज़ीना-ज़ीना [सीढ़ी-सीढ़ी] उतर गया पानी।
आज देखा जो हाल दरिया का
मेरी आँखों में भर गया पानी।
अब तो कुछ कीजिए बराएकरम
अब तो सर से गुज़र गया पानी।

और ये भी कहा उन्होंने:

न आज होगा न कल रहा है
ज़माना करवट बदल रहा है

तुम अपना कुनबा बचा के भागो
ये शहर गाँव निगल रहा है
अब उस की क़िस्मत में ठोकरें हैं
जो सीधे रस्ते पे चल रहा है

कितनी देर और बहारों को पुकारा जाए
कोई मौसम हो गुलिस्ताँ को सँवारा जाए

इस से पहले कि कोई कहर फ़लक से टूटे
जो भी है कर्ज़ ज़र्मी का वो उतारा जाए

व्यंग्यकार एवं स्तम्भ-लेखक सही राम ने फ़ासीवाद के विभिन्न रूप दिखाती लम्बी नज़्म 'राष्ट्रवाद का पाठ' पढ़ी।

कर्ज़ में डूब रहे किसान
आत्महत्या का ले वरदान
धरती दे दो सेठों को
मज़दूर बना दो बेटों को

मनजीत राठी ने विशेष तौर से महिलाओं के नज़रिए से अपनी बात कही और जातीय उन्माद और गरीबी की भी बात की:

ये माना कमज़ोर हूँ मैं
दूसरों के घर जलाना छोड़ दो

ख़ाली हाथ सिकन्दर देख
देख वक़्त के तेवर देख

ढूँढ़ रहा है जिस को बाहर
उस को अपने अन्दर देख

मनोज सहरावत 'दरवेश' का यह शे'र विशेष तौर पर ध्यान अपनी तरफ़ खींचता है –

ऐ मेरे हौसलो उठ कर छू जाओ बुलंदियों को
अभी तो कुछ कम ही ज़माने ने हाथ आज़माए हैं

दिनेश दधीचि जी ने बहुत ही सटीक लेकिन प्रभावी तरीके से आज के हालात पर अपनी बात रखी

माहौल हो तारीक, तो क्या ठीक रहेगा?
पकड़े रहें हम लीक, तो क्या ठीक रहेगा?
ख़ुद मेरा ही दिल जिस की नहीं देता गवाही
दुनिया जो कहे ठीक, तो क्या ठीक रहेगा?

वादा उस का इक मज़बूत इरादा था
आज मगर वो बोला, 'अच्छा, देखेंगे!'

बात करती है नज़र, होंठ हमारे चुप हैं
यानी तूफ़ान तो भीतर है, किनारे चुप हैं
उन की ख़ामोशी का कारण था प्रलोभन कोई
और हम समझे कि वो ख़ौफ़ के मारे चुप हैं

आँख निरंतर खुली रखेंगे तब जा कर
एक सुनहरे कल का सपना देखेंगे

सत्ता से कोसों दूर हूँ मैं
लेकिन मेरी भी हस्ती है
मैं सागर में इक बूंद सही
ये बूंद भी मायने रखती है

और

जातीय हुंकार से पामाल हुआ जाता है
आदमी का देखिए क्या हाल हुआ जाता है
झुक रही है हर कमर मुफ़्लिसी के बोझ से
लहू का रंग पीला, भूख का लाल हुआ जाता है

श्याम वशिष्ठ 'शाहिद' द्वारा पढ़े गए कुछ शे'र:

ज़ख़्म लगे हैं हम को तो ये काम नहीं है ख़ारों का
अन्दाज़ा था ग़लत हमें कुछ फूलों के किरदारों का

ज़िन्दगी से मात खाना छोड़ दो
क़ातिलों को आज़माना छोड़ दो
अपने घर में रोशनी के वास्ते
दूसरों के घर जलाना छोड़ दो

दिनेश दधीचि ने अपने उस्ताद जनाब राम नाथ चसवाल 'आबिद आलमी' को उन्हीं की याद में हो रहे मुशायरे में याद करते हुए समर्पित की अपनी इस रचना में दिनेश जी ने आबिद आलमी के कई रंगों को समेट लिया है।

आज तक जैसे-तैसे टाला है
तीर तरकश से अब निकाला है

है ये दावत अजीब क्या जानें
कौन किस का यहाँ निवाला है

किस की दस्तक है ये अन्धेरों में
दर पे शायद खड़ा उजाला है

लाल बत्ती है कार पर उन की
कारनामों का रंग काला है

इक सलीक़ा है अपने गुस्से में
हम ने ग़ज़लों में उस को ढाला है

सम्पर्क : 94162-33992

सामंतवाद, साम्राज्यवाद, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, अभिजनवाद का विरोध करते हुए प्रगतिशील मूल्य चेतना का निर्माण मुद्राराक्षस के चिंतन व बौद्धिक कर्म का मूल है। मार्क्स, लोहिया, भगतसिंह और आंबेडकर उनके प्रेरणा स्रोत थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'धर्म ग्रंथों का पुनर्पाठ' में संस्कृतियों के संघर्ष की पड़ताल की है। उनकी इसी पुस्तक से एक अंश यहां प्रस्तुत है –

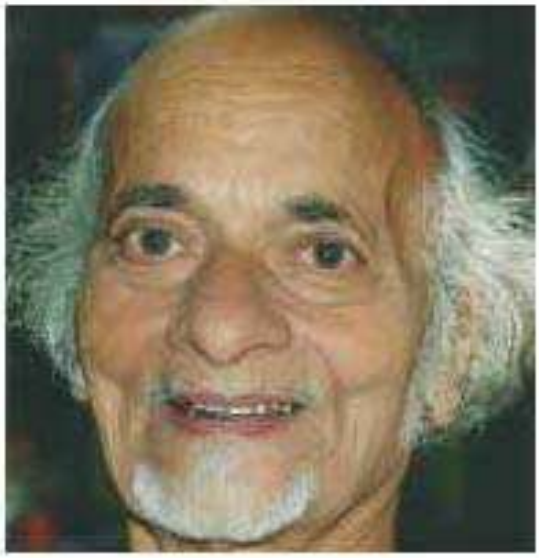

मुद्राराक्षस

जन्म : 21 जून 1933–मृत्यु 13 जून 2016

1951 से साहित्य लेखन और प्रारंभिक कविताओं और कहानियों का प्रकाशन। 1953 से आलोचना विधा में लेखन। 1955 से कलकत्ता से प्रकाशित ज्ञानोदय पत्रिका में सहायक सम्पादक। 1958 में पद से इस्तीफा। सन् 1961 के शुरू में दिल्ली में स्वतंत्र लेखन। 1962 से 1976 तक आकाशवाणी में आलेख सम्पादक। वहीं पहली कर्मचारी यूनियन का संगठन और कई बड़े आंदोलनों द्वारा कामगारों की स्थिति में बड़े सुधार। 1976 में एमरजेंसी के कारण इस्तीफा। 1976 से लखनऊ में ही रह कर लेखन और सामाजिक आंदोलनों में भागीदारी। दलित, ओबीसी, जनजातियों तथा अल्पसंख्यकों के हितों के लिए अनवरत संघर्ष।

नाटक, उपन्यास, आलोचना, कहानी, समाजशास्त्र, इतिहास तथा ऐतिहासिक व्यक्तित्वों पर विवेचनात्मक किताबें प्रकाशित। अखबार के कालम लेखन में अद्वितीय लोकप्रियता।

●

ब्राह्मण कर्मकाण्ड और ब्रेनवाशिंग

यहां सवाल यह भी उठता है कि इतनी बड़ी संख्या में श्रमिक, किसान, कारीगर और शिल्पी शुद्र और दास बने कैसे होंगे? क्योंकर उन्होंने इतनी गिरी हुई स्थिति को स्वीकार कर लिया होगा?

यहां भरत के नाट्यशास्त्र से फिर हमें कुछ संकेत मिल जाते हैं। भरत ने तत्कालीन सत्ता के प्रचार-प्रसार के लिए नाटक किए थे। वे तत्कालीन शासकों के गौरव, शौर्य और महानता की कथाएं मंचित कर रहे थे। जब सत्ता उनके काम से नाराज हो गई तो उसने भरत को उनके सभी कलाकार साथियों के साथ शूद्र घोषित कर दिया। कथा है कि जब थोड़े समय बाद नहुष ने इंद्र को पराजित किया तो उसने भरत को दुबारा राज्याश्रय दिया। नहुष इंद्र का ही नहीं, ब्राह्मण पुरोहितों का भी विरोधी था, क्योंकि उसने ब्राह्मण ऋषियों से पालकी उठाने का काम लेना शुरू कर दिया था।

याद होगा कभी चीन में माओ ने लेखकों, बुद्धिजीवियों से खेतों, कारखानों में काम करवाया था।

ब्राह्मण-सत्ता ने दुबारा नहुष को पराजित किया और भरत मंडल फिर शूद्र हुआ। किसी भी ब्राह्मण व्यवस्था में श्रमिक और शिल्पी के सामने सिफ दो रास्ते बचते हैं – अपनी हैसियत बचाने के लिए संघर्ष या समझौता। संघर्ष हुआ होगा इसमें संदेह नहीं है और खासा तीखा संघर्ष हुआ होगा। धर्मसूत्रों में शूद्र को बार-बार क्रोधी और हिंसक भी कहा गया है। वशिष्ठ धर्मसूत्र तो उन्हें जो गालियां देता है, वे ध्यान देने लायक हैं-शूद्र शत्रुता करता है, हिंसक होता है, अहंकारी और क्रोधी होता है, नास्तिक, आलसी और अपवित्र होता है, झूठ बोलता है। इसमें नास्तिक शब्द महत्वपूर्ण है जो सिद्ध करता है कि जिन्हें शूद्र कहा गया वे ब्राह्मणों के बुनियादी धर्मतंत्र के विरुद्ध थे। पर वे हिंसक, शत्रु और क्रोधी थे, वशिष्ठ धर्मसूत्र की इस बात से सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि वे विद्रोह और वह भी हिंसक विद्रोह की कोशिशें करते होंगे।

सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र में अश्वमेध जैसे लंबी अवधि के यज्ञ की विस्तृत चर्चा है। यह चर्चा ताण्ड्यब्राह्मण में भी मिलती है। इसमें यज्ञ में लगे हुए लोगों को एक दिन गालियां दी जाती हैं और शूद्र और आर्य के बीच नकली युद्ध होता है और इस युद्ध में शूद्र लोगों को दिखाने के लिए हार जाता है।

उत्तर वैदिक युग की सामाजिक स्थिति का यह एक अच्छा नमूना है। यज्ञकर्मियों को गालियां देने के आयोजन से निश्चय ही यज्ञ-विरोधी लोगों की याद ताजा होती है और आर्य और शूद्र के बीच नकली युद्ध में शूद्र की पराजय का नाटक उन स्थितियों को जाहिर करता है जो ब्राह्मण वर्चस्व स्थापित होने से पहले रही होंगी।

ब्राह्मण वर्चस्व सीधा-सादा और आसान नहीं रहा होगा। उसे अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए सबसे बड़ी जरूरत थी राजसत्ता

की। राजसत्ता को अपने वश में करना ब्राह्मण के लिए भी इतना आसान नहीं रहा होगा। राजसत्ता को अपने वश में करने की कई कहानियां पुराणों में हैं। श्रीमद् भागवत में राजा वेन की कथा आई है। राजा वेन ब्राह्मण विरोधी था। वह जातिवाद भी नहीं मानता था। मनुस्मृति में उसे वर्णसंकरता का दोषी बताया गया है। उसके दरबार में घुसकर ब्राह्मणों ने उसकी हत्या कर दी थी और उसके बेटे को इस शपथ पर राजा बनाया था कि वह ब्राह्मणों का सम्मान करेगा। दो सहस्राब्दि पहले पुष्यमित्रशुंग ने भी राजा की हत्या कर दी थी और ब्राह्मण प्रभुत्व स्थापित किया था। महाभारत में परशुराम द्वारा क्षत्रियों की हत्या का लंबा-चौड़ा वर्णन है। पुराणों में कार्तवीर्य सहस्रार्जुन जैसे लोगों का जिक्र है, जिनका सशस्त्र संघर्ष ब्राह्मणों से हुआ था। राजसत्ता पर ब्राह्मण वर्चस्व का यह एक रूप था।

ब्राह्मण वर्चस्व का दूसरा रूप वह था जिसे यह समुदाय अपने साथ बाहर से लेकर आया था। ब्राह्मण ने राजा की सारी आध्यात्मिक जिम्मेदारियां खुद ले लीं। राजा को सीधे सूर्य संतान या ईश्वर द्वारा नियुक्त किए जाने का विश्वास दिलाया। कबीलाई या आदिम समाज में ओझा जैसा एक व्यक्ति मौजूद रहता रहा है जो थोड़ी-बहुत झाड़-फूंक के अलावा कबीले के देवता से बात कर सकने की क्षमता प्रदर्शित करता था। उसका यह गुण किसी विचार पद्धति के रूप में विकसित नहीं होता था। ब्राह्मण ने यह घोषणा की कि वह ईश्वरीय सत्ता के सबसे निकट है, वही उसे जानने-पहचानने का अधिकारी है और दूसरे किसी के पास यह अधिकार नहीं है। राजा के पास भी ब्रह्मज्ञानी होने का अधिकार नहीं है। ओझा को कबीले के प्रमुख के ऊपर वे अधिकार नहीं मिले हुए थे जो ब्राह्मणों ने राजसत्ता को काबू में करने के लिए प्राप्त किए। ब्राह्मणों ने यज्ञ का सर्वाधिकार ले लिया था। किसी भी तरह की शिक्षा का सर्वाधिकार भी ब्राह्मण को ही था। शास्त्रज्ञान भी वही दे सकता था। ओझा परम्परा के पास ये अधिकार नहीं थे। यज्ञ के समूचे कर्मकाण्ड के कोड बना लिए गए थे और इस कोड को लागू करने का हक भी सिर्फ ब्राह्मण को ही था। राजा ही नहीं, वैश्य को भी अपनी इच्छा का बनाने और अपनी इच्छा से चलाने का ब्राह्मण का तीसरा अत्यंत कारगर तरीका था संस्कार पद्धति। जन्म ही नहीं, गर्भाधान के समय से लेकर अन्नप्राशन, यज्ञोपवीत, विवाह, मृत्यु, श्राद्ध जैसे (सोलह) (?) संस्कार ब्राह्मण ने अनिवार्य कर दिए थे और इनमें से हर किसी में यज्ञ आवश्यक होता था। संस्कार सोलह तो लोक-प्रचलन में हैं। गोतम ने चालीस संस्कार गिनाए हैं। इसके अलावा दिनचर्या को भी यज्ञों से बांधा गया, यहां तक कि कुछ गुह्यसूत्रों में हर दिन पांच यज्ञ करने की हिदायत दी गई। इस्लाम में हजरत मुहम्मद ने पांच वक्त की नमाज का विधान किया था। ब्राह्मण उसी इलाके के मूलवासी थे। उन्होंने प्रतिदिन पांच यज्ञों की व्यवस्था की। भोजन विधि क्या हो, यात्रा कैसे हो, उठा-बैठा कैसे जाए, इस सबके नियम बने।

इस सारी जकड़बंदी के वेदमंत्र निर्धारित कर दिए गए। और आग में घी के साथ हवन सामग्री डालते हुए ये सारे कर्मकाण्ड ऐसे सुर-ताल और मनोवैज्ञानिक आतंक के साथ करने का प्रबंध हुआ कि इससे 'प्रभावित' होने वाला व्यक्ति न सिर्फ निरंतर सम्मोहन की स्थिति में बना रहे बल्कि उसका दिमाग भी धीरे-धीरे धुल जाए।

ब्राह्मणों की इस संस्कार और यज्ञ पद्धति का मनोवैज्ञानिक और समाज मनोवैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए। कल्पना की जा सकती है कि जिन लंबी अवधि वाले यज्ञों को सत्र कहा जाता है और जो एक साल से भी ज्यादा चलते हैं, उनमें उपस्थित रहने वाले यजमानों की मानसिक स्थिति उस अरसे में क्या हो जाती होगी। जिन राजाओं को ब्राह्मण अपने प्रभाव में लेते होंगे, उन्हें अपने इन कर्मकाण्डों के द्वारा कितना ब्रेनवाश कर देते होंगे, इसकी कल्पना कठिन नहीं है।

ऐसे ब्रेनवाश किए हुए राजाओं को यह समझाना ब्राह्मण के लिए बिल्कुल कठिन नहीं था कि वह मेहनत और कारीगरी का उत्पादक श्रम करने वालों को इस तरह मजबूर करे कि कामगार मुफ्त सेवा करे और अपना उत्पाद बिना कीमत लिए राजा, व्यापारी और ब्राह्मण को अर्पित करे। राजा के पास चूंकि शस्त्र-शक्ति होती है, इसलिए कामगार समाज से दासता करा लेना उसके लिए आसान रहा होगा।

सत्ता को सम्मोहित करके उसे स्थायी रूप से ब्रेनवाश करने के लिए एक चीज और जरूरी थी - हर तरह की जानकारी, सूचना और ज्ञानराशि पर भी ब्राह्मणों का एकाधिकार।

इसके लिए ब्राह्मण ने यह व्यवस्था दी कि ब्रह्म को जानने का अधिकार केवल ब्राह्मण को है और इस तरह आध्यात्मिकता के हर पक्ष को उसने अपने कब्जे में रखने का प्रबंध किया। यज्ञों पर तो ब्राह्मण का एकाधिकार था ही, लिखित किताबों पर भी उसने यह कहकर कि वेद श्रुति हैं, एकाधिकार रखा, जबकि वेदों की लिखित प्रतियां तैयार करने की परम्परा ब्राह्मणों में बहुत प्राचीन है। महाभारत में वेदों की लिखी हुई प्रतियां बेचने वाले ब्राह्मणों का जिक्र है-गोकि उसमें यह भी है कि अशुद्ध वेद भी बेचते हैं- वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव दूषका:। वेद लिखे जाते थे पर श्रुति परम्परा इसलिए चलाई गई कि ब्राह्मणों के अलावा किसी के पास यह किताब न हो।

ब्राह्मण बाकी समाज के ब्रेनवाश के लिए बहुत सावधान था। उसने बराबर यह कहा कि ब्राह्मणों का रहस्य समझने की कोशिश कोई न करे। कोई तर्क और विवेक का प्रयोग न करे - नैषा तर्केण मति: आपनेया यानी तर्क से यह सब नहीं समझा जा सकता। उपनिषद् के इस दावे के अलावा महाभारत में भी कहा गया है कि धर्म बुद्धि से नहीं समझा जाता - न धर्मवचनं वाचा नैव बुध्येति। यह सिर्फ शास्त्र द्वारा यानी ब्राह्मण के बनाए तरीके से समझा जाता है। एक और श्लोक में आपद्धर्म पर्व में ही ज्यादा सख्ती से कहा गया है कि वे अज्ञानी हैं जो तर्क द्वारा शास्त्रों को गलत सिद्ध करते हैं। दान धर्म पर्व में तो ब्राह्मण को बहस में हरा देना घोर पाप माना गया है।

ब्रेनवाश को मजबूत और स्थायी बनाने के लिए तर्क को खारिज करना और बहस करना, पाप घोषित करना जरूरी था।

ब्रेनवाश किए हुए क्षत्रियों और वैश्यों की मानसिक स्थिति इतनी ज्यादा खराब कर दी जाती थी कि ब्राह्मण उनसे कुछ भी खुशी-खुशी करवा सकते थे। दानधर्म पर्व में इसका एक आश्चर्यजनक प्रसंग आया है। अग्निपुत्र सुदर्शन घर में आए ब्राह्मण अतिथि का सत्कार करता है। अतिथि ब्राह्मण कहता है कि वह सुदर्शन की पत्नी के साथ संभोग करना चाहता है। ब्राह्मण की सेवा के लिए सुदर्शन अपनी पत्नी उसे समर्पित कर देता है।

ऐसा ब्रेनवाश हुआ व्यक्ति ब्राह्मण-व्यवस्था के लिए कुछ भी करने को तैयार क्यों नहीं हो जाएगा? ●●

डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल अध्ययन संस्थान, कुरुक्षेत्र द्वारा 26 जून 2016 को डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल स्मृति व्याख्यान-7 का आयोजन किया। विषय था 'भारतीय लोकतंत्र: दशा और दिशा'। इसकी अध्यक्षता प्रो. टी. आर. कुण्डू ने की। इस अवसर पर मुख्य वक्ता के तौर पर प्रख्यात विचारक सुभाष गाताड़े ने जो वक्तव्य उसके अंश यहां प्रस्तुत हैं। सं.

पवित्र किताब की छाया में आकार लेता जनतंत्र

सुभाष गाताड़े

मुझे लगता ह कि हर समय का अपना मिज़ाज होता है। सौ साल पहले उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष चल रहे थे, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों ने तत्कालीन समाजी मिज़ाज को परिभाषित करने की कोशिश की थी, अक्तूबर क्रांति और फासीवाद विरोधी आंदोलनों ने एक इंकलाबी जोश को भरने की कोशिश की थी। आज 21 वीं सदी की दूसरी दहाई में अपने समय के मिज़ाज को हम क्या कह सकते हैं ? क्या यह कहना गैरवाजिब होगा कि समय का मिज़ाज लोकतंत्र अर्थात जम्हूरियत की अवधारणा के इर्द-गिर्द परिभाषित होता है।

आखिर जनतंत्र को कैसे समझा जा सकता है ?

'जनतंत्र मुख्यत: राज्य एवं अन्य सत्ता संरचनाओं के गठन की एक प्रणाली होता है।' औपचारिक तौर पर वह एक ऐसी व्यवस्था होती है, जहां हर 'पात्र सदस्य' कानून बनाने से लेकर निर्णय लेने तक में बराबरी से हिस्सा लेता है। और जाहिर है कि किसी मसले पर सहमति न बने तो ऐसे फैसले को अल्पमत बहुमत की बुनियाद पर लिया जाता है। इन दिनों जनतंत्र की समझदारी इतनी व्यापक हो चली है कि बेहद आत्मीय दायरों से - मसलन परिवार से - प्रगट सार्वजनिक दायरों तक वह पसर चुकी है।

सवाल उठता है कि इस अवधारणा को लेकर हम क्यों गुफ्तगू कर रहे हैं ? दरअसल जनतंत्र के लिए समर्पित लोग या उसके प्रति सरोकार रखनेवाले लोग इस अवधारणा की आदर्शीकृत छवि और जमीनी धरातल पर उजागर होते उसके विपर्यय से चिंतित हैं और इस मसले पर तबादले खयालात करने के लिए व्याकुल हैं। दरअसल वह जनतंत्र की अवधारणा के बढ़ते 'खोखले होते जाने' से परेशान हैं और यह सोचने के लिए मजबूर है कि आखिर ऐसा क्यों हो रहा है ?

लोग सोच रहे हैं कि आखिर जनतंत्र हर ओर दक्षिणपंथी हवाओं के लिए रास्ता सुगम कैसे कर रहा है, अगर वह युनाईटेड किंगडम इंडिपेण्डस पार्टी के नाम से ब्रिटेन में मौजूद है तो मरीन ला पेन के तौर पर फ्रांस में अस्तित्व में है तो नोर्बर्ट होफेर और फ्रीडम पार्टी के नाम से आस्ट्रिया में सक्रिय है तो अमेरिका में उसे डोनाल्ड ट्रंप के नाम से पहचाना जा रहा है। वैसे इन दिनों सबसे अधिक सुर्खियों में ब्रिटेन है, जिसने पश्चिमी जनतंत्र के संकट को उजागर किया है। ब्रिटेन को यूरोपीयन यूनियन का हिस्सा बने रहना चाहिए या नहीं इसे लेकर जो जनमत संग्रह हुआ, जिसमें सभी यही कयास लगा रहे थे कि ब्रिटेन को 'अलग हो जाना चाहिए' ऐसा मानने वालों को शिकस्त मिलेगी, मगर उसमें उलटफेर दिखाई दिया है; वही लोग जीत गए हैं। और इस बात को नहीं भुलाया जा सकता कि जो कुछ हो हुआ है उसमें प्रक्रि या के तौर पर गैर जनतांत्रिक कुछ भी नहीं है। दक्षिणपंथ के झण्डाबरदारों ने ऐसे चुनावों में लोगों को अपने पक्ष में वोट डालने के लिए प्रेरित किया है, जो पारदर्शी थे, जिनके संचालन पर कोई सवाल नहीं उठे हैं।

लोगों की चतुर्दिक निगाहें यह देख रही हैं कि अमेरीकी सेनायें जब इराक पर आक्रमण करती हैं तो वह भी 'जनतंत्र बहाली' के लिए होता है और जब कोई डोनाल्ड ट्रंप मुसलमानों के खिलाफ स्त्रियों के खिलाफ / आप्रवासियों के खिलाफ जहर उगलते हुए दुनिया के सबसे बड़े चौधरी मुल्क के राष्ट्रपति पद के लिए अपना दावा ठोंकते हैं तो वह भी जनतांत्रिक प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए ही होता है या किसी ब्राजिल नामक मुल्क में जब चुनी हुई राष्ट्रपति को -जिनके खिलाफ व्यक्तिगत भ्रष्टाचार के आरोप तक नहीं लगे हैं - वैश्विक पूंजी, स्थानीय अभिजातों की सहायता से अपदस्थ करती है, जिसे संवैधानिक तख्ता पलट भी कहा गया है, और उनके स्थान पर भ्रष्टाचार में आकंठ डूबे लोगों को हुकूमत की बागडोर सौंपती है तो वह भी जनतंत्र के नाम पर ही किया जाता है या किसी फिलिपिन्स में राष्ट्रपति पद पर एक ऐसा शख्स - जनतांत्रिक प्रक्रियाओं के तहत - चुना जाता है, जिसे यह 'शोहरत' हासिल है कि मेयर के तौर पर उसके यहां सैकड़ों लोगों को अपराध नियंत्रण के नाम पर पुलिस ने फर्जी मुठभेड़ों में मार डाला और जो प्रगट तौर पर नारी विरोधी है। आप कह सकते हैं कि इन दिनों लोकतंत्र में ऐसे हिटलरकुमारों का गद्दीनशीन होना आम हो रहा है जिन पर यह आरोप लगते रहते हैं कि उन्होंने 'विशिष्ट' जन के संहार में भाग लिया था।

आखिर जनतंत्र के इस रूपांतरण को - जो कुल मिला कर जन के खिलाफ ही पड़ता है - कैसे समझा जा सकता है ?

गौरतलब है कि लोकतंत्र की भावी दशा एवं दिशा को लेकर खतरे के संकेत उसी वक्त प्रगट किए गए थे जब देश ने अपने आप को एक संविधान सौंपा था। संविधान सभा की आखरी बैठक में डा. आम्बेडकर की भाषण की चन्द पंक्तियां याद आ रही हैं, जिसमें उन्होंने साफ कहा था:

''हम लोग अन्तर्विरोधों की एक नयी दुनिया में प्रवेश कर रहे हैं। राजनीति में हम समान होंगे और सामाजिक-आर्थिक जीवन में हम लोग असमानता का सामना

करेंगे। राजनीति में हम एक व्यक्ति - एक वोट और एक व्यक्ति- एक मूल्य के सिद्धान्त को स्वीकार करेंगे। लेकिन हमारे सामाजिक-राजनीतिक जीवन में, हमारे मौजूदा सामाजिक-आर्थिक ढांचे के चलते हम लोग एक लोग-एक मूल्य के सिद्धान्त को हमेशा खारिज करेंगे। कितने दिनों तक हम अन्तर्विरोधों का यह जीवन जी सकते हैं ? कितने दिनों तक हम सामाजिक और आर्थिक जीवन में बराबरी से इन्कार करते रहेंगे ।''

जनतंत्र के मौजूदा स्वरूप को लेकर बेचैनी के स्वर आज की तारीख में ऐसे लोगों से भी सुनने को मिल रहे हैं जो संवैधानिक पदों पर विराजमान हैं, ऐसे लोग जिन्होंने अपने ज़मीर की बात को कहने का बार बार जोखिम उठाया है।

पिछले साल 'राममनोहर लोहिया स्मृति व्याख्यान' में उपराष्ट्रपति हामिद अंसारी के इन शब्दों को पढ़ते हुए यह बात अवश्य लग सकती है, जब उन्होंने कहा था:

'एक जनतांत्रिक समाज में, मतभिन्नता का स्वीकार एक तरह से बहुवचनी होने का आवश्यक अंग समझा जाता है। इस सन्दर्भ में, असहमति का अधिकार एक तरह से असहमति का कर्तव्य बन जाता है क्योंकि असहमति को दबाने की रणनीति जनतांत्रिक अन्तर्वस्तु को कमजोर करती है।.. एक व्यापक अर्थों में देखें तो असहमति की आवाज़ों की अभिव्यक्ति उन गंभीर गलतियों से बचा सकती है या बचाती रही है - जिनकी जड़ों को हम सामूहिक ध्रुवीकरण में देख सकते हैं - यह अकारण नहीं कि भारत की आला अदालत ने असहमति के अधिकार को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार - जिसे संविधान की बुनियादी अधिकार की धारा 19/1/ के तहत गारंटी प्रदान की गयी है - के एक पहलू के तौर पर स्वीकार किया है।...आज की वैश्वीकृत होती दुनिया में और ऐसे तमाम मुल्कों में जहां जनतांत्रिक ताना-बाना बना हुआ है, असहमति को स्वर देने में नागरिक समाज की भूमिका पर बार-बार चर्चा होती है और साथ ही साथ उसके दमन या उसे हाशिये पर डालने को लेकर बात होती है।''

उन्होंने यह भी कहा कि

''असहमति और विरोध के लिए और कोई भी बात उतनी जानलेवा नहीं दिखती जितना यह विचार कि सभी को बाहरी एजेण्डा तक न्यूनीकृत किया जा सकता है ..यह विचार कि जो मेरे नज़रिये से इत्तेफाक नहीं रखता वह किसी दूसरे के विघटनकारी एजेण्डा का वाहक है, अपने आप में घोर गैरजनतांत्रिक विचार है। वह नागरिकों के प्रति समान सम्मान से इन्कार करता है क्योंकि वह उनके विचारों के प्रति गंभीर होने की जिम्मेदारी से आप को मुक्त कर देता है। एक बार जब हम असहमति के स्रोत को विवादित बना देते हैं फिर उनके दावों की अन्तर्वस्तु पर गौर करने की आवश्यकता नहीं रहती ..इसका असहमति पर गहरा प्रभाव पड़ता है।''

हम अख़बार की कतरनों पर निगाह डालें और खुद समझें कि जनतंत्र की क्या शक्ल बन रही है। अख़बारों की कतरनें आखिर क्या बताती हैं ? दरअसल आज हम इस सम्भावना से रू-ब-रू हैं कि जनतंत्र के रास्ते किस तरह बहुसंख्यकवाद का शासन कायम हो सकता है। दो साल पहले सम्पन्न चुनाव इस बात की एक झलक दिखलाते हैं कि 'हम' और 'वे' की यह गोलबन्दी किस मुक़ाम तक पहुंच सकती है। निचोड़ के रूप में कहें कि अगर आप के विश्व दृष्टिकोण में 'अन्य' कहे गये समुदायों, समूहों के लिए कोई जगह नहीं भी हो, आप उन्हें सारत: दोयम दर्जे के नागरिक बनाना चाहते हों, तो भी कोई बात नहीं, आप 'हम' कहे जा सकने वाले समुदाय को गोलबन्द करके सिंहासन पर बिल्कुल जनतांत्रिक रास्ते से आरूढ हो सकते हैं। आज से ठीक 66 साल पहले देश को संविधान सौंपते वक्त जिस किस्म के भारत के निर्माण का तसव्वुर किया गया था, जिसकी कल्पना की गयी थी, उससे बिल्कुल अलहदा पसमंज़र फिलवक्त़ हमारे सामने है।

आप सभी जानते ही हैं कि यह एक ऐसी संसद है जहां सबसे बड़े अल्पसंख्यक समुदाय का सबसे कम प्रतिनिधित्व दिखता है। और पहली दफा एक ऐसी पार्टी हुकूमत में आयी है, जिसके 272 सांसदों में से महज दो सदस्य अल्पसंख्यक समुदायों से हैं, और जोर देने वाली बात यह है कि देश के सबसे बड़े अल्पसंख्यक समुदाय का एक भी सदस्य उसमें नहीं है।

निश्चित ही यह महज खास समुदाय विशेषों की उपस्थिति या कम उपस्थिति या अनुपस्थिति से जुड़ा मामला नहीं है। यह विभिन्न रूपों में प्रतिबिम्बित हो रहा है।

पहले आप सत्य को उद्घाटित करने के लिए लिखते थे, आप तथ्यों को जुटाते थे और सत्यान्वेषण करते थे, इस बात की फिक्र किए बिना कि इसकी वजह से किस संगठन, किस समुदाय की 'भावनाएं आहत होंगी।' और अब 'आहत भावनाओं का खेल' इस मुकाम पर पहुंच गया है कि कई चर्चित किताबें लुगदी बनाने के लिए भेज दी गयी हैं और कई अन्य को लेकर उसी किस्म का खतरा मंडरा रहा है।

अध्ययन के मुताबिक साल के शुरूआती तीन महिनों में ही 19 लोगों पर राजद्रोह के 11 मामले दर्ज किए गए जबकि विगत दो वर्षों में इसी कालखंड में ऐसा एक भी केस दर्ज नहीं हुआ था। डिफेमेशन अर्थात बदनामी के नाम पर भी दर्ज मामलों में छलांग दर्ज की गयी जहां इन तीन महिनों में 27 केस दर्ज हुए तो विगत साल महज 2 केस दर्ज हुए थे। 2016 में सेन्सरशिप की घटनाओं में भी उछाल देखा गया जबकि वर्ष 2015 के पहली तिमाही में महज दो केस हुए थे जबकि 2016 की प्रथम तिमाही में 17 मामले दर्ज किए गए।

अगर हम बेहद ठंडे दिमाग से देखने की कोशिश करें तो आप यह भी महसूस कर सकते हैं कि जनतंत्र के लिए जिस चैलेंज की हम बात कर रहे हैं, वह एक तरह से आपातकाल द्वारा उपस्थित चुनौती से भी कई गुना बड़ा है। आपातकाल, जब मोहतरमा इंदिरा गांधी ने जनान्दोलनों से आतंकित होकर 'आन्तरिक सुरक्षा का हवाला देते हुए' नागरिक आज़ादियों को, जनतांत्रिक अधिकारों को सीमित किया था, हजारों लोगों को जेल में ठूंसा था, तब कम-से-कम यह दिख रहा था कि किस किस्म के अधिनायकवादी कदमों से हम रू-ब-रू हैं, मगर आज ऐसे कोई प्रत्यक्ष अधिनायकवादी कदम नहीं हैं, मगर जनतंत्र के आवरण में बहुसंख्यकवाद की यह ऐसी दस्तक है जिसे लोकप्रिय समर्थन हासिल है।

विडम्बना यही है कि जनतंत्र के सम्मुख खड़ी बहुसंख्यकवाद की चुनौती महज भारत तक सीमित नहीं है। यूं तो दक्षिणपंथ का उभार वैश्विक है, मगर दक्षिण एशिया के इस हिस्से में बहुसंख्यकवाद का बोलबाला बढ़ रहा है।

यह एक किस्म का विचित्र संयोग

कहा जा सकता है कि जहां हम भारत की सरजमीं पर साम्प्रदायिक ताकतों की बढ़त के बारे में लोकतंत्र के बहुसंख्यकवाद में रूपांतरण पर गौर कर रहे हैं, दक्षिण एशिया के इस हिस्से में स्थितियों कमोबेश एक जैसी दिखती हैं जब बहुसंख्यकवादी ताकतें – जो किसी खास धर्म या नस्ल से जुड़ी हुई – उभार पर दिखती हैं। म्यांमार/बर्मा, बंगलादेश, श्रीलंका, मालदीव, पाकिस्तान, आप किसी मुल्क का नाम लें और देखें कि किस तरह जनतांत्रिक ताकतें धीरे-धीरे हाशिये पर की जा रही हैं और बहुसंख्यकवाद की आवाज सर उठा कर बोल रही है।

बहुत कम लोगों ने कभी इस बात की कल्पना की होगी कि अपने आप को बौद्ध – जिसे अहिंसा का पुजारी समझा जाता है – का अनुयायी बतानेवाले लोग अपने मुल्क में अल्पसंख्यकों की तबाही एवं उनके कत्लेआम को अंजाम देने में मुब्तिला मिलेंगे। म्यांमार की घटनाएं इसी कड़वी हकीकत की ताईद करती हैं, जिसे हम रोहिंग्या मुसलमानों की त्रासदी के रूप में भी देख रहे हैं।

मेरी समझ से तीन ऐसी बड़ी चुनौतियां जनतंत्र के रास्ते में खड़ी है जिन्हें 'वैश्विक पूंजी, सदा झुकने के लिए तैयार राष्ट्र राज्य और अधिनायकवादी समुदाय' के तौर पर चिन्हित किया जा सकता है। अगर हम इन चुनौतियों को ठीक से समझें तो एक नयी जमीन तोड़ने की जरूरत समझ में आती है। यह अलग बात है कि जनतंत्र की दिक्कतों को दूर करने के लिए ऐसे-ऐसे विकल्प भी हमारे सामने पेश होते हैं कि कई लोग दिग्भ्रमित होते दिखते हैं।

पिछले दिनों एक विचार चक्र के दौरान युवाओं के एक समूह के साथ बात करने का मौका मिला था, मैंने वहां मौजूद सहभागियों से यही जानना चाहा कि उनके हिसाब से जनतंत्र के सामने किन-किन किस्म की चुनौतियों से हम आज रू-ब-रू हैं ? आम तौर पर जैसा होता है पहले किसी ने जुबां नहीं खोली, मगर थोड़ी ही देर बाद अधिकतर लोगों ने अपनी बात रखी।

एक बेहद छोटे मगर मुखर अल्पमत का कहना था कि भारत जैसे पिछड़े मुल्क में, जो इतने जाति, समुदायों, सम्प्रदायों में बंटा है, वहां जनतंत्र कभी पनप नहीं सकता। उनके लिए इसे ठीक करने का एक ही नुस्खा था कि मुल्क की बागडोर – कम-से-कम दस साल के लिए – एक डिक्टेटर के हाथों में सौंप दो, सब कुछ ठीक हो जाएगा। मैने पड़ोसी मुल्क पाकिस्तान – जो हमारे साथ ही आजाद हुआ था – से लेकर अन्य कई मुल्कों का जिक्र किया, जिन्हें भारत की तरह तीसरी दुनिया के देशों में ही शुमार किया जा सकता है, जो लगभग उसी दौरान आजाद हुए, मगर जहां लोकतंत्र कभी जड़ जमा नहीं सका, और उनके साथ भारत की तुलना करने को कहा !

मगर वह मानने को तैयार नहीं थे। वह इसी बात की रट लगा रहे थे कि एक 'अदद डिक्टेटर' क्यों समस्याओं को ठीक कर सकता है।

वैसे जानकार बता सकते हैं कि एक डिक्टेटर की यह ख्वाहिश समूचे भारतीय समाज के प्रबुद्ध हिस्से में विचित्र ढंग से फैली दिखती है, जिसका एक पैमाना हम हिटलर – जो अपनी कर्मभूमि में आज भी एक तरह से 'बहिष्कृत' है – की आत्मकथा 'माइन काम्फ अर्थात मेरा संघर्ष' की भारत के बुक स्टॉलों या पटरी पर लगी दुकानों के बीच 'लोकप्रियता' से देख सकते हैं।

एक स्वीडिश राजदूत ने भारत यात्रा के बारे में अपने अनुभवों को साझा करते हुए कहीं लिखा था कि 'उसे यह देख कर हैरानी होती है कि भारत में किताबों की प्रतिष्ठित दुकानों में भी हिटलर की आत्मकथा देखने को मिलती है, और पुस्तक विक्रेताओं के हिसाब से उनके खरीदार कम नहीं हो रहे हैं। एक तानाशाह के लिए मुन्तज़िर कहे जा सकने वाले लोगों में से एक तबका उन अभिजातों का दिखता है, जिन्हें यह बात सख्त नापसन्द है कि गरीब गुरबा या दमित-उत्पीड़ित तबके के लोग भी इन दिनों सियासत में दखल बना रहे हैं।

बातचीत का सिलसिला आगे बढ़ा फिर वे जो 'अदद डिक्टेटर' के हिमायती थे, उन्हें छोड़ कर कइयों ने 'संस्थागत जनतंत्र' बनाम ' प्रत्यक्ष जनतंत्र' की बात छेड़ी। उनका कहना था कि संसदीय व्यवस्था के रूप में हमारे यहां जो संस्थागत जनतंत्र हमारे यहां साठ साल से आकार लिया है, वही समस्याओं की जड़ में है; जिसमें सहभागी को पांच साल में या नियत समय में एक बार वोट डालने का और अपने शासक चुनने का अधिकार मिलता है, राज्य के रोजमर्रा के संचालन में, नीति-निर्धारण में उसकी अप्रत्यक्ष भागीदारी ही बन पाती है।

उनका कहना था कि राज्यसत्ता के संचालन में लोगों की इस औपचारिक सी भागीदारी को समाप्त कर उसे अगर ठोस शक्ल देनी हो तो 'प्रत्यक्ष जनतंत्र' बेहतर तरीका हो सकता है। इसके अन्तर्गत हर मोहल्ला अपना खुद का घोषणा-पत्र तय करेगा, शासन एवं विकास के हर पहलू पर पूरा नियंत्रण कायम करेगा, जहां लोग अपने 'भले' के हिसाब से निर्णय लेंगे, और समुदाय के जीवन में बसे सांस्कृतिक मूल्यों एवं नैतिक मानदण्डों की हिमायत करेगा और उन्हें व्यवहार में लाएगा।

मैंने उनसे यह समझाने की कोशिश की सम्पत्ति, सत्ता एवं जाति, धर्म, नस्ल आदि के आधार पर बंटे एक विशाल समाज में, जहां अभी भी व्यक्ति के अधिकार की अहमियत पूरी तरह से स्थापित नहीं हो सकी है, जहां वह अगर अपने हिसाब से रहना चाहे, प्यार करना चाहे या जिन्दगी बसर करना चाहे तो उसे तमाम वर्जनाओं से गुजरना पड़ता है, जहां अपनी सन्तानें अगर अपनी मर्जी से शादी करना चाहें तो पंचायतों के फैसलों के नाम पर उनके मां बाप उन्हें खुद खतम करते हों, या जहां 'हम' और 'वे' की भावना इतने स्तरों पर, इतनी दरारों पर उजागर होती हो और जहां उत्पीड़ित समुदायों को प्रताडित करने के लिए पुलिस बल पर आतंक मचाने या दंगा कराने की बात बहुत अजूबा न मालूम पड़ती हो, वहां पर उनका नुस्खा कैसे काम करेगा ?

मेरी समझ से यह एक सख्त/स्ट्रांग जनतंत्र की अवधारणा थी जिसमें 'राज्यसत्ता का विकेन्द्रीकरण किया गया हो और बेहद सक्रिय नागरिक स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के माध्यम से उसका संचालन करते हों।'

कइयों ने उन तमाम बातों का जिक्र उन्होंने किया, जो उनके दैनंदिन जीवनानुभव पर आधारित थी। यह तमाम ऐसी परिघटनाएं, बातें थी जिनसे उनका रोज का साबिका पड़ता है या मीडिया के माध्यम से आए दिन उनके इर्दगिर्द बहस मुबाहिसा होता रहता है। उनके मुताबिक अगर जनतंत्र इन समस्याओं का समाधान कर सके तो वह सुचारू रूप से चल सकता है।

समस्याओं को लेकर उनके बहुमत का यही मानना था कि अगर

प्रणालियां ठीक से चलने लगें, कानून ठीक से काम करे तो इन चुनौतियों से निजात पायी जा सकती है। लुब्बोलुआब यही था कि जनतंत्र की प्रणाली – फिर चाहे न्यायपालिका हो, कार्यपालिका हो, विधायिका हो – ठीक से काम करने लगें तो सब कुछ बेहतर हो जाएगा। कहीं भी इस बात की ओर संकेत नहीं था कि एक पिछड़े समाज में जनतंत्र के आरोपण में और एक विकसित समाज में जनतंत्र के आगमन में क्या कोई अन्तर हो सकता है या नहीं। और क्या ऐसी प्रणालियां सामाजिक बनावट की छाप से स्वतंत्र रह सकती हैं ? शायद प्रत्यक्ष जनतंत्र का सम्मोहन 'आप' की फौरी सफलता में भी दिखता है।

गौरतलब है कि संसद-विधानसभा की जनतंत्र की प्रातिनिधिक प्रणाली के बरअक्स एक सघन सहभागितापूर्ण ग्रासरूट जनतंत्र का विचार कइयों को आकर्षित करता रहा है। चाहे ग्राम स्वराज्य के नाम पर हो या 'मोहल्ला कमेटियां' हो उनके जरिए राज्य के विकेन्द्रीकरण की बात – जो एक तरह से मजबूत अर्थात स्ट्रॉग डेमोक्रेसी में परिणत होती है – के तहत सक्रिय नागरिक स्थानीय स्वशासन के माध्यम से सत्ता संचालन करेंगे, यह बात कही जाती है। विडम्बना यही है कि सहभागितापूर्ण जनतंत्र बनाने के इस 'आकर्षक' दिखनेवाले विचार पर अधिक चर्चा यहां के प्रबुद्ध तबके में भी नहीं हो सकी है।

अगर हम जनतंत्र के समक्ष खड़ी चुनौतियों से जूझना चाहते हैं और औपचारिक जनतंत्र से वास्तविक जनतंत्र कायम करना चाहते हैं, व्यक्ति के अधिकार को सुनिश्चित करना चाहते हैं, तो उस दिशा में पहला कदम उन तमाम सम्मोहनों से मुक्ति का होगा, जिनको लेकर प्रगतिशील, जनपक्षीय ताकतों के अन्दर भी दिग्भ्रम मौजूद हैं।

इस मामले में एक जबरदस्त सम्मोहन भारत की पारम्पारिक संरचनाओं को लेकर है, जो व्यक्ति के अधिकार के निषेध पर टिकी हैं और समुदाय के अधिकार को वरीयता प्रदान करती हैं। अगर उत्तर भारत के कुछ इलाकों में खाप पंचायतों के रूप में वह उजागर होती हैं तो बाकी जगहों पर जातिगत पंचायतों के रूप में वह प्रगट होती हैं। ऐसे तमाम समुदायों को जनमानस में भी जो वैधता मिली है, उसे प्रश्नांकित करने की जरूरत है। भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में जनतंत्र को मुकम्मल बनाने के लिए यह आंतरिक लड़ाई आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

हम इस बात को नहीं भूल सकते कि भारत में जनतंत्र का जिस तरह आरोपण औपनिवेशिक कालखण्ड में हुआ, उसके चलते ऐसी तमाम संरचनाओं से रैडिकल विच्छेद मुमकिन नहीं हो सका। इसलिए भारतीय व्यक्ति भले ही ऊपरी तौर पर जनतंत्र की बात करे, व्यक्ति के अधिकार के सम्मान मगर अन्दरूनी तौर पर वह अपने अपने समुदायों की पहचानों के साथ ही अपने आप को नत्थी पाता है। यह अकारण नहीं कि यहां किसी वर्चस्वशाली जाति को आरक्षण प्रदान करने के लिए चलने वाले आन्दोलन अधिक जल्दी समर्थन जुटा पाते हैं, मगर जीवन यापन के साधनों की दिक्कतें या रोजगार की अनुपलब्धता या सार्वजनिक सेवाओं में लगातार की जा रही कटौती जैसे बहुमत के मसलों पर चले आन्दोलनों के लिए समर्थन जुटा पाना टेढी खीर बनता है।

जनतंत्र को सुनिश्चित करने के लिए धर्मनिरपेक्षता एक आवश्यक मूल्य है। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ 'राज्य एव धर्म का अलगाव' अर्थात धर्म की न केवल राज्य के संचालन में बल्कि समाज के संचालन से दूरी। लुब्बेलुआब यही कि आप की धार्मिक पहचान आप के अधिकारों के हनन या उन्हें वरीयता प्रदान करने का जरिया नहीं बन सकती, न ही वह आप के साथ किसी भेदभाव या विशेषाधिकार का सबब बनती है। आजादी के बाद से भारत में धर्मनिरपेक्षता को लेकर किसी न किसी स्तर पर संघर्ष जारी है, फिर चाहे वह नीतियां बनाने के रूप में हो या जमीनी स्तर पर साम्प्रदायिक ताकतों के – ऐसी ताकतों को जो धर्म की राजनीति में दखलंदाजी को वरीयता प्रदान करती हैं – खिलाफ संघर्ष चलाने के रूप में हो। यह भी स्पष्ट है कि उसकी तमाम सीमाएं रही हैं, जिसके चलते आज राजनीति के शीर्ष पर हम ऐसी ताकतों को पाते हैं जो भारत को हिन्दू राष्ट्र बनाना चाहती हैं। मुझे लगता है कि हमें उन सीमाओं को समझने की, रेखांकित करने की जरूरत है ताकि हम ऐसी जनतंत्र का निषेध करनेवाली ताकतों पर हावी हो सकें।

मेरा मानना है कि इस देश की प्रगतिशील ताकतों ने धर्मनिरपेक्षता की समूची लड़ाई को राज्य तक केन्द्रित किया है, नीतियां बनाने पर जोर दिया मगर समाज के धर्मनिरपेक्षीकरण को लेकर वह गाफिल रहे। और वह समूचा दायरा चाहे हिन्दू साम्प्रदायिक या मुस्लिम साम्प्रदायिक या अन्य यथास्थितिवादी या प्रतिक्रियावादी समूहों की सक्रियताओं का अखाड़ा बना रहा, जिन्होंने रोज रोज की अपनी कार्रवाइयों से या वैकल्पिक संस्थाओं के निर्माण के जरिए – चाहे स्कूल हो या कालेज हों – शेष समाज के गैर-धर्मनिरपेक्षीकरण अर्थात डिसेक्युलरायजेशन के एजेण्डा पर अमल जारी रखा। क्या हम अपनी इस गलती से सीख नहीं सकते हैं ताकि इस दिशा में नयी जमीन तोड़ सकें।

चाहे पारम्पारिक समुदाय हों या पूंजी हो यह दोनों ही व्यक्तिगत अधिकारों के निषेध पर टिके हैं। पारम्पारिक समुदायों के जनतंत्र निषेध के खिलाफ हमारी लड़ाई जहां एक आन्तरिक लड़ाई कही जा सकती है, वहीं पूंजी के शासन के खिलाफ लड़ाई एक बाहरी लड़ाई कही जा सकती है।

यूं तो सहजबोध में यही बात हावी रहती है कि पूंजीवाद एवं जनतंत्र एक दूसरे के पूरक रहे हैं। यहां तक कि जनतंत्र की व्यापक स्वीकार्यता और अमल के दौर को पूंजीवाद के इतिहास के समकक्ष देखा जा सकता है।

लाजिम है कि अगर जनतंत्र को मुकम्मल बनाने के लिए पूंजी के शासन को चुनौती देना अनिवार्य है और साथ ही साथ यह जरूरी है कि हम वैकल्पिक समाज का तसव्वुर/कल्पना भी करते रहे। पूंजी के शासन को समाप्त कर जिस समतामूलक समाज की स्थापना करना चाहते हैं, उसके बारे में विचार विमर्श/तबादले खयालात जारी रखें। मेरी समझ से यह वैकल्पिक समाज एक समाजवादी समाज ही होगा। इसका स्वरूप कैसा होगा, वह समाजवाद के पुराने प्रयोगों से किस तरह अलग होगा, यह भी स्पष्ट करने की जरूरत निश्चित ही बनी रहेगी। अन्त में, मानवता के व्यापक हिस्से के भविष्य को अगर अधिकाधिक सुनिश्चित करते जाना है, मानवीय आजादी पर लगी तमाम बन्दिशों को समाप्त करते जाना है तथा मानवीय आजादी के दायरों का अधिकाधिक विस्तार करते जाना है तो इसके बिना कोई विकल्प नहीं है। ●●

सम्पर्क: 9868940920

बी. मदन मोहन
की
बाल कविताएं

गैस गुबारा

मैं हूं गैस गुबारा भैया ऊंची मेरी उड़ान
नदियां-नाले-पर्वत घूमूं फिर भी नहीं थकान
बस्ती-जंगल बाग-बगीचे या हो खेत-खलिहान
रुकता नहीं कहीं भी पलभर देखूं सकल जहान

उड़ते-उड़ते गया हिमाचल देखा एक स्कूल
नीचे था एक झरना बहता, महक रहे थे फूल
ऊंची-नीची घाटी थी और मौसम था प्रतिकूल
फिर भी पुस्तक लिए हाथ में बच्चे थे मशगूल
जीवन में आगे बढ़ने की यही एक पहचान
मैं हूं गैस गुब्बारा भैया ऊंची मेरी उड़ान

आगे बढ़ते पहुंच गया मैं छोटे-से एक गांव
चारों तरफ फसल लहराती कहीं धूप कहीं छांव
कड़ी धूप में हल-बैलों संग मेहनत करें किसान
तभी पहुंचता भारत के घर-घर में गेहूं-धान
अन्न-धन से भरे महकते भारत के खलिहान
मैं हूं गैस गुब्बारा भैया ऊंची मेरी उड़ान

गिरजा देखा मस्जिद देखी मंदिर और गुरुद्वारा
गंगा के घाटों पर देखा मैंने अजब नजारा
सूरज की किरणों से पहले पक्षी करते शोर
कहीं कूकती कोयल देखी कहीं नाचता मोर
शंख और मृदंगम बाजे कहीं से उठे अजान
मैं हूं गैस गुब्बारा भैया ऊंची मेरी उड़ान

धवल चोटियां हिमालय की पहरेदार हमारा
ताजमहल की सुंदरता है अद्‌भुत एक नजारा
हमने दुनिया को बांटा है ज्ञान और विज्ञान
दया धर्म करुणा और ममता है अपनी पहचान
सच कहता हूं भैया सबसे सुंदर हिंदुस्तान
मैं हूं गैस गुब्बारा भैया ऊंची मेरी उड़ान

चिड़िया

चिड़िया मेरे घर की छत पर
रोज फुदकती है रुक-रुक
अपनी भाषा में जाने क्या
बोला करती है टुक-टुक।

उसकी बोली को सुन-सुनकर
नन्हें चूजे आ जाते
आंगन में बिखरे दानों को
चीं-चीं करते खा जाते
शैतानी करते मनचाही
मां के पीछे लग जाते
पंक्ति बांध के चलते, जैसे
रेल का इंजन छुक-छुक-छुक।

तिनका कभी दबाए मुंह में
फुर्र-फुर्र उड़ती आती है
बड़े जतन से बना घोंसला
मुझे देख मुस्काती है।
सारा दिन उड़ती-गाती है
शाम ढले थक जाती है
अगली सुबह जगाती मुझको
खिड़की पर करके ठुक-ठुक

मुझसे कहतीं, पर्वत-नदियां
मैंने खूब निहारे हैं
दूर रेत के टीलों पर भी
अपने पंख पसारे हैं
भारत की धरती पर देखे
सब अनमोल नजारे हैं
पर सतलुज घाटी में उड़ते
मेरा मन करता धुक-धुक।

एक शाम चहककर बोली
क्या पढ़ती हो बहना?
मैंने कहा किताब, जो है
सबसे अच्छा गहना।
दीदी! मैंने तो सीखा है
बस उड़ते ही रहना
लेकिन जब देखूं स्कूल में
मन मेरा कहता रुक-रुक

सम्पर्क - 94162-26930

रेत से प्रौद्योगिक क्रांति की ओर

अविनाश उपाध्याय

सन् 1947 में जब भारत आजादी की क्रान्ति में संलग्न था, प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में एक असाधारण क्रांति हुई। सन् 1947 में बेल लैबोरेटरी में पहली बार सॉलिड स्टेट ट्रांजिस्टर का निर्माण किया गया। इसको बनाने वालों का नाम था जॉन बारडीन, वॉल्टर ब्रेटेन, और विलियम शॉक्ले। इन्होंने पहली बार जरमेनियम तत्त्व का प्रयोग कर यह ट्रांजिस्टर बनाया था। इस ट्रांजिस्टर का नाम था बाईपोलर जंक्शन ट्रांजिस्टर। पहले से चली आ रही वैक्यूम ट्यूब आधारित उपकरणों में होने वाली कुछ मूलभूत समस्याओं को खत्म करने के लिए इस ट्रांजिस्टर का निर्माण किया गया था। वैक्यूम ट्यूब बहुत ही नाजुक उपकरण थे, जो जरा भी जोर पड़ने अथवा गिरने की स्थिति में आसानी से टूट जाते थे। साथ ही यह बहुत बड़े थे और इनसे बनाए जाने वाले उपकरण काफी गरमी पैदा करते थे। इस खोज के लिए तीनों वैज्ञानिकों को 1956 में नोबेल सम्मान से भी सम्मानित किया गया। किसे पता था कि यह खोज आने वाले समय में विश्व भर में इलेक्ट्रॉनिक की दिशा में एक क्रांति पैदा कर देगी। सन् 1958 में एक और अभियंता जिनका नाम था जैक किल्बी, ने पहली बार दो ट्रांजिस्टरों को एक आधार पर जोड़ कर पहले इन्टीग्रेटड सर्किट अथवा आई.सी. का निर्माण किया। इन्टीग्रेटेड सर्किट का अर्थ है एक आधार पर कई सारे छोटे उपकरणों का समागम कर नया सर्किट बनाना। इस कार्य के लिए जैक किल्बी को 2010 में नोबेल सम्मान से नवाजा गया। सन् 1958 में एक और भौतिक वैज्ञानिक रॉबर्ट नॉयस ने पहला सिलिकन आधारित आई.सी. का निर्माण किया। यह आई.सी. पिछली आई.सी. के मुकाबले ज्यादा अच्छी और सही ढंग से उपयोग में लाई जा सकने वाली थी। आगे चलकर इसी सिलिकन आधारित उपकरणों ने सारे इलेक्ट्रॉनिक्स बाजार पर अपना नियंत्रण कर लिया। आइए जानें कि सिलिकन कहां से और कैसे मिलता है।

सिलिकन तत्त्व मरुस्थलों में पाई जाने वाली रेत में भरपूर मात्रा में उपलब्ध है। यह विश्व में दूसरा सबसे अधिक पाया जाने वाला तत्त्व है। यह एक अर्धचालक (सेमीकन्डक्टर) है। रेत के अन्दर सिलिकन डाईऑक्साइड नाम का एक पदार्थ पाया जाता है। सिलिकन को रेत से निकालने के लिए पहले इस रेत को ट्रकों में भरकर उद्योग स्थलों तक पहुंचाया जाता है। वहां रेत को कोक (कार्बन के एक रूप) के साथ इसे 1200 डिग्री से भी अधिक तापमान पर गरम किया जाता है। इससे सिलिकन तत्त्व रेत से अलग हो जाता है। बाद में एक तेज घूमती छोटी पिंडुली को पिघले हुए सिलिकन में डाला जाता है और धीरे धीरे उसे ऊपर की ओर खींचा जाता है। ऐसा करने से सिलिकन एक बेलन का आकार ले लेता है। बाद में इसे पतली डिस्कों में काट लिया जाता है। इस एक डिस्क को वेफर का नाम दिया गया है। इस पूरी प्रक्रिया में सिलिकन की शुद्धता का विशेष ख्याल रखा जाता है। इसकी शुद्धता का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि वैज्ञानिक इसे 99.999999999999 प्रतिशत शुद्ध रखते हैं। इस पूरी प्रक्रिया का नाम जोक्रैल्स्की विधि है। इस तैयार वेफर को बाद में फैब्रीकेशन लैबों में भेजा जाता है, जहां इसमें छोटे छोटे ट्रांजिस्टरों का प्रयोग करके इसे आई.सी. का रूप दिया जाता है। बाद में यही आई.सी. अपनी उपयोगिता अनुसार आपके मोबाइल फोन, कम्प्यूटर तथा अन्य उपकरणों में लगाई जाती है। इस आई.सी. में मौजूद ट्रांजिस्टरों का आकार आज की प्रौद्योगिकी में मात्र 14 नैनो मीटर रह गया है। अर्थात यह बाल की मोटाई के 1000वें हिस्से से भी कम है। यह ट्रांजिस्टर छोटी सी दिखने वाली आई.सी. में अरबों की संख्या में मौजूद होते हैं। भले ही इस प्रौद्योगिकी की शुरुआत एक छोटे ट्रांजिस्टर बनाने के साथ हुई हो और ऊपर से देखने में यह कितनी भी आसान एवं अच्छी दिखती हो गहराई में उतरने पर ज्ञात होगा कि इन उपकरणों को बनाने में वैज्ञानिकों को कितनी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। 14 नैनो मीटर आकार के ट्रांजिस्टर को इंसानी हाथों से नहीं बनाया जा सकता। इसके लिए अत्याधुनिक मशीनों का प्रयोग किया जाता है। जिन कमरों में इन आई.सी. का निर्माण होता है उन्हें क्लीन रूम कहा जाता है। इन क्लीन रूमों में धूल या किसी भी बाहरी कण को 10 पार्ट पर मिलियन यानी दस लाख में मात्र 10 कण रखा जाता है। यह करना बेहद मुश्किल और मंहगा है। आप को यह जान कर भी आश्चर्य होगा कि भारत में इस प्रकार की कोई भी लैब मौजूद नहीं है। यदि इन लैबों को इतना साफ नहीं रखा जाएगा तो संभव है कि धूल या किसी अन्य पदार्थ के कण आई.सी. में मौजूद किसी ट्रांजिस्टर की जगह ले लें और आपका उपकरण सही कार्य न करे। यह खोज और इस प्रकार की बेहद संवेदनशील प्रौद्योगिकी का निर्माण वैज्ञानिकों एवं अभियंताओं द्वारा एक साहसपूर्ण कार्य था।

दोस्तों,आप के जीवन में भी विज्ञान को समझने और ऐसी खोजों को कर सकने का भरपूर मौका मिलेगा, ऐसे समय में आप की जिज्ञासा आपको एक नई खोज को जन्म देने के लिए प्रेरित करेगी बस आप उस पथ पर अडिग बढ़ते जाएं।

••

एम. एस सी. इलेक्ट्रॉनिक्स, सम्पर्क : 9355129176

'यह पृथ्वी मेरी और सब की है और यह हमारे अस्तित्व की पहली शर्त है। इस पृथ्वी को मोल तोल की एक वस्तु के रूप में तबदील करना स्वयं को मोलतोल की वस्तु में तबदील करने की ओर आखिरी कदम है।- एंगेल्स

पारिस्थितिक संकट और समाजवाद का भविष्य

डा. कृष्ण कुमार

आज विश्व के सामने पारिस्थितिक संकट एक गंभीर चुनौती है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले सम्मेलनों, सेमिनारों और राजनेताओं की चर्चा परिचर्चा से यह जाहिर होता है कि पृथ्वी की सेहत खराब हो रही है। हम पर्यावरण संहार के नए दौर से गुजर रहे हैं। समय आ गया है कि अब हमें मानवीय प्रयासों और गतिविधियों के मूल्यांकन करने की आवश्यकता है ताकि आने वाली पीढ़ियां हमारे नजरिए पर उंगली न उठाएं। जीवन के अनिवार्य घटक हवा, पानी और मिट्टी का संतुलन इस कदर बिगड़ गया है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वस्थ जीवन एक सपना बनकर रह गया है।

अठाहरवीं शताब्दी के मध्य तक यह माना जाता था कि पृथ्वी पर मौजूद संसाधनों की कमी नहीं है। हम उत्पादन की दर बढ़ाकर मानवीय इतिहास में नई ऊंचाई को छू सकते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जन्में पर्यावरण विज्ञान ने बताया कि पृथ्वी पर संसाधनों की सीमा है। हमारी हर इच्छा का भौतिकीय रूप संभव नहीं है। भौतिकीय समृद्धि पर खड़ी कोई सभ्यता इस गृह पर जीवन की उत्तरजीविता का संकट खड़ा कर सकती है। ऐसा नहीं है कि हम विकास के नाम पर पर्यावरण को तबाह करते जाएंगे। पर्यावरण संकट और विकास के मॉडल का सीधा सम्बन्ध है। ज्यों-ज्यों पर्यावरण संकट गहराता जाएगा, विकास के मॉडल पर उतना बड़ा सवाल खड़ा होता जाएगा। सवाल सिर्फ पर्यावरण से जुड़ा नहीं है, बल्कि मनुष्य के साथ-साथ अन्य जीव जंतुओं के उत्तर जीवन से भी जुड़ा हुआ है।

यह पुस्तक वर्तमान संकट को समझने की एक रूपरेखा प्रस्तुत करती है। इस संकट की जिम्मेवार पूंजीवादी व्यवस्था है, जिसका मूल तर्क अधिकतम लाभ कमाना है। मुनाफे के बिना पूंजीवाद नहीं चल सकता, चाहे इसके लिए पर्यावरण को ही दांव पर क्यों न लगाना पड़े? वास्तविक शत्रु पूंजीवाद है और अब जीवन के हर क्षेत्र में इसकी पैठ बढ़ रही है। इस प्रभुत्वकारी शक्ति ने वैश्वीकरण के नाम पर सारी दुनिया में अपनी जगह बना ली है, फिर भी हमारे बहस मुहाबसों, विचार-विमर्श का केंद्र पूंजीवाद और उसका संरचनात्मक रूप नहीं, बल्कि औद्योगिकीकरण, आधुनिकता, विज्ञान और तकनीकी कारण है। पृथ्वी का संकट प्राकृतिक घटना नहीं, बल्कि समाज व्यवस्था के चरित्र का संकट है और आज यह व्यवस्था राजनीतिक विमर्श से गायब है।

मानवीय इतिहास में यूरोपीय ज्ञानोदय एक उपलब्धि है। पहली बार आस्था पर तर्क की जीत हुई। मनुष्य आसपास के वातावरण को तर्क-वितर्क और ज्ञान के माध्यम से समझने लगा। कांट ने इसे मनुष्य के ज्ञान की प्रौढ़ावस्था कहा। समय के साथ-साथ ज्ञान और तर्क को पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा इस कद्र जज्ब कर लिया गया कि ये केवल आर्थिक गतिविधियों को सम्पन्न करने के साधन भर रह गए। इसी कारण हमारे समस्त मानवीय मूल्य आर्थिक गतिविधियों के दायरे में सम्पन्न होने लगे। पूंजीवाद को आधुनिकीकरण का पर्याय मान लिया गया और इसके नाम पर मुनाफे का कारोबार चल पड़ा। आज समस्त अर्थव्यवस्थाओं का एकीकरण मानवीय विकास के लिए नहीं, बल्कि आर्थिक विकास की चाह में किया गया है।

पारिस्थितिक संकट का खतरा दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है और अब इसकी बहुत स्पष्ट जानकारी हमारे पास है। जल, भूमि और वायु का प्रदूषित होना है, ओजोन परत का पिघलना, अम्लीय वर्षा के खतरे, प्राकृतिक संसाधनों का तेजी से रिक्तीकरण, वनों की समाप्ति और मरूस्थलीकरण का विस्तार, रेडियो एक्टिव पदार्थों और औद्योगिक कचरे से नदियों और समुद्रों में बढ़ते हुए प्रदूषण ने मनुष्य ही नहीं, बल्कि इस ग्रह पर मौजूद अन्य जीव जगत के जीवन पर संकट मंडारने लगा है तथा आहार श्रृंखला के टूटने से जीवों की प्रजातियां विलुप्त हो रही हैं। पिछली दो शताब्दियों में असंख्य मात्रा में वनस्पतियां विलुप्त हो चुकी हैं तथा प्रतिवर्ष 50000 जैविक प्रजातियां नष्ट हो रही हैं। हालिया रिपोर्ट और अध्ययन बताते हैं कि अगली शताब्दी तक विद्यमान प्रजातियों में से आधी विलुप्त हो जाएंगी। पारिस्थितिकी विशेषज्ञ विल्सन ने कहा कि संभावित विलुप्तीकरण एक शानदार होलोकास्ट है। इस व्यवस्था में हम सामूहिक वध के लिए अभिशप्त हैं।

अमेजोन क्षेत्र के जंगल दुनिया के समस्त वनों के चौथाई हिस्से का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा अपनी जैव विविधता, वनस्पति और जीव जंतुओं की विशिष्ट प्रजातियों के लिए प्रसिद्ध हैं। ग्रीनपीस संस्था ने अनुमान लगाया है कि आने वाले 50 वर्षों में कुछ पेड़ ही बचेंगे, जंगल पूर्णत: नष्ट हो जाएंगे। पर्यावरण में कार्बन डाई-आक्साईड के स्तर में निरन्तर वृद्धि आगामी खतरे की सूचना दे रही है। पृथ्वी का तापमान बढ़ रहा है तथा वर्ष 2100 तक समुद्र का जलस्तर 15 से 59 सेंटीमीटर तक बढ़ने की आशंका है। पहाड़ी ग्लेशियर के पिछले से कुछ शहर और द्वीप समुद्र में समा जाएंगे। वर्ष 2025 तक तीन में से दो व्यक्तियों को पानी की किल्लत का सामना करना पड़ेगा।

इस समस्या का सम्बन्ध तीन बातों से है-उपभोक्तावादी जीवन शैली और जनसंख्या वृद्धि, पर्यावरणवादी गैर सरकारी संस्थाएं और उत्तरजीवी विकास की अवधारणा। समकालीन पर्यावरण विध्वंस के लिए मनुष्य रूप से पहली दुनिया जिम्मेवार है। 'इस्तेमाल करो और फैंक दो' की संस्कृति ने पर्यावरण पर बोझ डाला है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस जीवन शैली

को बढ़ावा दिया गया। अमेरिका के खुदरा क्षेत्र के विशेषज्ञ विक्टर लोवान ने कहा- हमारी भीमकाय उत्पादन व्यवस्था मांग करती है कि हम अपनी जीवन शैली के अनुरूप उपभोग करें। यह कि चीजों की खरीद फरोख्त को हम एक संस्कार/अनुष्ठान में तबदील कर दें। यह कि इससे हमें आध्यात्मिक किस्म की संतुष्टि प्राप्त हो या उपभोग से हमारे अहम् को संतुष्टि प्राप्त हो...हमको तीव्रता से चीजों की खपत की, उनके जलाए जाने की, उन्हें खराब करने की बदल देने की और नष्ट करने की प्रवृति विकसित करने की जरूरत है। उपभोक्ता शैली का जन्म अमेरिका में हुआ और अब इसे व्यापार के साथ पूरी दुनिया में परोसा जा रहा है। दुनिया की आबादी का 25 फीसदी हिस्सा रखने वाली पहली दुनिया कुल ऊर्जा का 80 फीसदी खर्च करती है तथा 75 फीसदी हिस्से वाली तीसरी दुनिया कुल वैश्विक ऊर्जा का मात्र 20 फीसदी प्रयोग करती है। पहली दुनिया के औद्योगिक देश वैश्विक स्तर पर उत्पन्न होने वाली कुल कार्बन-डाईक्साईड का दो तिहाई उत्सर्जन करते हैं तथा ओजोन परत को क्षरित होने वाली 90 फीसदी क्लोरोफ्यूरो कार्बन पहली दुनिया से उत्सर्जित होता है, जिसके परिणामस्वरूप दसियों लाख व्यक्ति आने वाले समय में कैंसर से पीड़ित हो जाएंगे। मोटे रूप से वैश्विक प्रदूषण के लिए 80 फीसदी हिस्सेदारी पहली दुनिया की है।

कथित पहली दुनिया के जीवन स्तर को कायम रखने के लिए धरती के संसाधनों का जिस ढंग से दोहन किया जा रहा है, उसे धरती बर्दाश्त नहीं कर सकती। यह दुनिया टॉयलेट और पैकिंग पर इतना कागज इस्तेमाल करती है, जिससे कई देशों की स्कूली किताबें और अखबारों का काम चलाया जा सकता है। थर्ड वर्ल्ड नेटवर्क के मार्टिन खोर फोक पेंग ने रेखांकित किया- 'न्यूयार्कवासी एक सप्ताह में जितनी ऊर्जा का प्रयोग करते हैं, अफ्रीकावासी उससे कहीं कम ऊर्जा का प्रयोग पूरे वर्ष में करते हैं।'

पर्यावरण चेतना की अवधारणा का जन्म उन देशों में हुआ, जहां लंबे समय तक विकास का प्रारूप गैर उत्तरदायी रहा। वे समकालीन संकट को अपनी जीवन शैली की बजाए दक्षिण देशों की अत्यधिक जनसंख्या के साथ जोड़ कर देखते हैं। माथल्सवादी विद्वानों का मत है कि संसाधनों की अपेक्षा जनसंख्या वृद्धि की रफ्तार तेज है तथा इस संकट का समाधान जनसंख्या नियंत्रण से संभव है। वैश्विक जनसंख्या में लगभग 92 मिलियन प्रतिवर्ष की दर से बढ़ौतरी हो रही है, जिसमें से 88 मिलियन प्रतिवर्ष की दर विकासशील देशों की है। जनसंख्या वृद्धि पर रोकथाम जरूरी है, लेकिन इस विषय पर शोध करने वाले अन्य विद्वानों का मत है कि मौजूदा व्यवस्था मे जनसंख्या वृद्धि और पर्यावरण में गिरावट का कोई औपचारिक सम्बन्ध नहीं है। जैसा कि वैज्ञानिक बैरी कॉमोनेर ने कहा कि पर्यावरण का नुक्सान जनसंख्या वृद्धि द्वारा नहीं, बल्कि मौजूदा उत्पादन तकनीक द्वारा हो रहा है। मौजूदा उत्पादन पद्धति द्वारा पोषित उपभोक्तावादी जीवन शैली अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तीसरी दुनिया की जनसंख्या वृद्धि पर जोर देकर उत्तर की उत्पादन व्यवस्था की गैर जीवनक्षमता को छिपाती है। जनसंख्या वृद्धि का सम्बन्ध गरीबी से है, जो पूंजीवाद का आधारभूत लक्षण है। यह केंद्र (पहली दुनिया) पर समृद्धि और परिधि (तीसरी दुनिया) पर गरीबी को जन्म देता है। पहली दुनिया की समृद्धि तीसरी दुनिया के संसाधनों की लूट पर खड़ी है।

इस समय दुनिया में आर्थिक साम्राज्यवाद के साथ-साथ पर्यावरण उपनिवेशवाद का उदय हो रहा है, जो विकास और तकनीक के नाम पर पैदा हो रहा है। विकास के नाम पर पहले इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं को उदार बनाया गया और फिर प्रदूषण पैदा करने वाले कारखानों एवं जहरीले कचरे को यहां स्थानांतरित किया गया। एक अनुमान के अनुसार विकसित देशों द्वारा प्रतिवर्ष 20 मिलियन जहरीला कूड़ा कर्कट, परमाणु कचरा और अपशिष्ट पदार्थ तीसरी दुनिया के देशों में भेजे जा रहे हैं। यह कचरे का साम्राज्यवाद है जो तीसरी दुनिया को डंपिंग प्लेस में तबदील कर रही है। जहां दो तिहाई से ज्यादा आबादी अर्द्ध मानवीय स्थिति में रह रही है। प्रदूषणकारी उद्योगों को तीसरी दुनिया में शिफ्ट करने से विश्वव्यापी लागत ही कम हीं होती, बल्कि तीसरी दुनिया में रहने वाले लोगों के जीवन का कोई मूल्य नहीं है। पहली दुनिया के लोगों का जीवन बहुमूल्य है। स्वच्छ वातावरण उसकी आवश्यकता है और उन्हें उपलब्ध होना जरूरी हे। 'लेट देम इट पालियुशन' के लेखक ललारेंस समर्स का मत है-'प्रदूषण कारक उद्योगों को कम विकसित देशों में अधिक से अधिक स्थानांतरित करने के पक्ष में है, क्योंकि वे अधिक प्रदूषण का अवशोषण कर सकते हैं। यहां जीवन प्रत्याशा और मजदूरी पहले से ही कम है। यदि यहां लोग युवावस्था मं ही मौत का शिकार होते हैं, तब भी उनके पास खोने को कुछ नहीं है।

वास्तविक अर्थों में पहली दुनिया अपनी जीवन शैली में किसी प्रकार के त्याग और संयम की जरूरत महसूस नहीं करती। उल्टा तीसरी दुनिया को पर्यावरण संकट के लिए जिम्मेवार मानती है। अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर विकसित देश प्रकृति पर आधारित इनकी जीवन शैली को इस समस्या के लिए चिह्नित करती है। गरीब लोगों का वनों पर आश्रित होना, लकड़ी भोजन और फल फूल प्राप्त करना अब एक वैश्विक मुद्दा हो गया है और अधिक ऊर्जा खपत वाली जीवन शैली हाशिए पर चली गई है। औद्योगिक देशों की वजह से अगले 50 वर्षों में पर्यावरण में कार्बन डाइक्साईड की मात्रा दुगनी हो जाएगी तथा इस ग्रह पर जीवन के विकल्प और कम हो जाएंगे। क्या कभी इन देशों से पर्यावरण की कानूनी कीमत वसूली जाएगी, जिन्होंने हीरोशिमा और नागासाकी पर बम गिराए, खाड़ी युद्ध में नाटो द्वारा यूरेनियम हथियारों का प्रयोग, वियतनाम युद्ध में एजेंट औरेंज का प्रयोग (एक घातक रसायन, जिसका प्रयोग अमेरिका ने वियतनाम युद्ध में किया, इसके छिड़काव से 2 लाख लोगों की तत्काल मृत्यु, वियतनामी बच्चे अपंग पैदा होने लगे। वहां की वनस्पति और फसलों पर अब भी इसका प्रभाव देखा जा सकता है।) ये युद्ध जितनी जनता के खिलाफ थे, उतने पर्यावरण के विरुद्ध भी। रासायनिक व जैविक हथियारों के प्रयोगकर्त्ता देशों से इस घृणित कार्य के लिए कानूनी वसूली तो दूर की बात है, अफसोस तक जाहिर नहीं किया है। यह धनी देशों की राजनीति है जो पूरी तरह भयानक और मानवविरोधी उपननिवेशवाद की समाप्ति के बावजूद भी तीसरी दुनिया के प्रति इनके नजरिए में कोई बदलाव नहीं आया। अपने हितों की रक्षा के लिए तीसरी दुनिया के राजनीतिक और आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप करना अपना विशेषाधिकार समझते हैं। यह हस्तक्षेप विकास के नाम पर किया जाता है। वैश्विक जनसंख्या समस्या का हल प्रस्तुत करते हुए लीडस विश्वविद्यालय के प्रो. मारिस किंग ने कहा कि गरीब देशों के लिए चिकित्सा और प्रतिरक्षण कार्यक्रमों पर खर्च कम करने की

आवश्यकता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के भूतपूर्व डायरैक्टर जनरल हाफडॉन माइलेर ने कहा कि उत्तरजीवी जैव व्यवस्था को कायम रखने के लिए इन बच्चों को व्यापक सुख मृत्यु (यूथेंनेजिया) के हवाले किया जाए। इसमें हैरत की कोई बात नहीं है। यह पूंजीवाद का असली रूप है कि वह बहुसंख्यक आबादी का ना तो कल्याण कर सकता है और न ही उसकी बेहतरी के लिए उसके पास कोई कार्यक्रम है वह पहली दुनिया को समृद्ध करने के लिए तीसरी दुनिया से क्रूर और अमानवीय व्यवहार करता है।

हाल ही के दिनों में कुछ लोगों और गैर सरकारी संस्थाओं में पर्यावरण बचाओ को लेकर अच्छा खासा उत्साह देखा गया है। वे लोगों से एक नैतिक क्रांति की अपेक्षा रखते हैं। हमें अपने पर्यावरण की रक्षा के लिए ज्यादा से ज्यादा पेड़ लगाने चाहिएं। इस प्रयास से हम जीवन के यादगार पलों को अमर बना सकते हैं। अपने नायकों/महापुरुषों के नाम पर पौधारोपण करके हम उनके उद्देश्य और योजनाओं को जनता कं मनो-मस्तिष्क में पुन:स्थापित कर सकते हैं। इनकी सद्इच्छा सराहनीय है। ये हमारी चेतना को परिष्कृत और परिभाषित करते हैं, कुछ संभावनाओं को जन्म देते हैं। इनके मासूम और भोले प्रयास पर्यावरण संकट की चेतना से जनता को परिचित तो करवाता है लेकिन इस संकट के लिए जिम्मेवार व्यवस्था पर उंगली नहीं उठा पाता। इनका राजनीतिक चिंतन सीमित है और व्यवस्था में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर पाता।

इन प्रयासों की अपनी मूल्यवत्ता है। बहुत से लोग सच्चे मन से लगे हुए हैं। पर्यावरण के वैश्विक प्रश्न का हल स्थानीय स्तर पर कार्यरत इन कार्यकर्त्ताओं के पास नहीं है। ये ज्यादा से ज्यादा पूंजीवादी गतिविधियों का स्थानीय स्तर पर विरोध कर सकते हैं, लेकिन योजना स्थगित नहीं होती, केवल उसका स्थान बदल जाता है। एक सीमा के बाद पर्यावरण रक्षक समूह की गतिविधियां वस्तुनिष्ठ परिवर्तन लाने में असमर्थ है।

लोगों से आग्रह किया जाता है कि साधारण ढंग से जीवन व्यतीत करें। अपने आसपास के वातावरण के प्रति संवेदनशील बनें। हम उपभोक्तापूर्ण वस्तुओं का इस्तेमाल ना करें। जैसे परिवहन के लिए कारों का इस्तेमाल या तो बंद कर दें, या कम से कम सप्ताह में एक दिन इस सुविधा का इस्तेमाल ना करें। जनता बहुत बुद्धिमान और जागरूक हो तो भी वह कारों का इस्तेमाल तब तक बंद नहीं कर पाएगी, जब तक कोई बेहतर परिवहन व्यवस्था की मौजूदगी न हो। हम किसी भी समुदाय को विकल्प दिए बिना वस्तुओं को त्यागने या कम प्रयोग करने के लिए नहीं कर सकते। वैयक्तिक परिवर्तन और सामाजिक परिवर्तन एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। इस प्रकार हमारा संवेदनशील नजरिया और नैतिक आह्वान मौजूदा व्यवस्था को छिपाने में लग जाता है।

कारपोरेट दुनिया अपनी योजना को आकर्षक शब्दावली में प्रस्तुत करने में माहिर है। अब उसने अपना नाम ग्रीन कार्पोरेट रखा है। उसके पैरोकारों का मत है कि समय के साथ-साथ बाजार के अदृश्य हाथ इस समस्या का समाधान खोज लेंगे। हमारे वैज्ञानिक और विशेषज्ञ इस दिशा में कार्यरत हैं। हमें एक पर्यावरण क्रांति की आवश्यकता है, जो विज्ञान और तकनीक पर आधारित हो। यह भुला दिया जाता है कि यह मुद्दा वैज्ञानिक और तकनीकी नहीं, बल्कि राजनीतिक और आर्थिक है।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एनजीओ का जाल बिछा हुआ है। वे पर्यावरण के लिए चिंतित दिखाई देती हैं। एक तरफ वे साफ-सुथरे पर्यावरण की आवश्यकता पर जोर देती है, दूसरी और प्रदूषण फैलाने वाली बहुराष्ट्रीय निगमों से भारी अनुदान प्राप्त कर रही हैं। हाल ही में पर्यावरण रक्षक समूह और बहुराष्ट्रीय निगमों के बीच गठबंधन बढ़ रहा है। वे एक-दूसरे के एजेंडे को आगे बढ़ा रही हैं। ब्रिएन टोकर का अध्ययन बताता है कि वर्ल्ड वाइल्ड लाइफ फंड जैसी कई जानी-मानी पर्यावरणवादी संस्थाओं के 23 निदेशक और कौंसिल सदस्य 19 कारपोरेशनों से जुड़े हुए हैं जो सर्वाधिक प्रदूषण फैलाने वाले उद्योगों की सूची में है। जैसे यूनियन कार्बाइड, एक्सोन, मोंसेटो, वेहरस्यूर और ड्यूपोंटे। डिस्कवर अंडरवारटर, ओनली वन अर्थ, नेशनल जियोग्राफिक जैसी पर्यावरणवादी संस्थाओं को कारपोरेट दुनिया वित्तीय सहायता मुहैया कराती है। हम शिनाख्त नहीं कर पाते कि इस ग्रह को बचाने वाले कौन हैं? प्रदूषण फैलाने वाले कौन?

पूंजीवाद पर्यावरण के प्रति नहीं, संवृद्धि के प्रति चिंतित है। इसके लिए चाहे समस्या को खड़ा करना पड़े या फौरी तौर पर उसका समाधान प्रस्तुत करना पड़े। वह केवल पूंजी और पूंजी संचय करता है। अब वह अपने फैलाये सैन्य,नाभिकीय और औद्योगिक कचरे के प्रबंधन में जुट गया है। इस क्षेत्र में एक नया व्यवसाय खड़ा हो गया है, मित्सुविशी हैवी इंडस्ट्री, ड्यूपोंटे और ए.वी.सी. जैसी भीमकाय कम्पनी पर्यावरणीय तकनीक और सेवाओं को परोस रही हैं।

दिन-प्रतिदिन यह समस्या बढ़ती जा रही है। इसके लिए पूंजीवादी व्यवस्था जिम्मेवार है। इस व्यवस्था के रहते किसी भी प्रकार के रचनात्मक प्रयास पर्यावरण को बचाने में अधूरे हैं। उत्पादन की प्रकृति अर्थात् बिना आवश्यकता को उत्पादन करना ही इस समस्या की जड़ है।

अर्थ पॉलसी इंस्टीच्यूट के अध्यक्ष लेस्टर ब्राउन ने कहा था-हमारे लिए वक्त बीत गया है और इस ग्रह को बचाने का युद्ध हार रहे हैं। जरूरत है इस व्यवस्था का प्रतिपक्ष रचने की जो लोभ और लालच से परे हो। मानवीय गुणों से भरपूर हो तथा प्रकृति को उपयोगी वस्तु की बजाए मनुष्य की सृजनशीलता की प्रयोगशाला मानती हो।

हमें समझदारी से आगे बढ़ने की आवश्यकता है। मानवीय समाज के सामने अब भी समाजवादी व्यवस्था एक विकल्प है, जो हमारी उत्तरजीविता के प्रश्न को हल कर सकती है। आधुनिक विश्व व्यवस्था में समाजवाद का पहला प्रयोग सोवियत संघ में शुरू हुआ, लेकिन शीतयुद्ध में पूंजीवाद को टक्कर देने के लिए अत्यधिक उत्पादन वाला रास्ता अपनाकर अपनी गरिमा गंवा बैठा। अपनी तमाम असफलताओं और निराशाओं के बावजूद समाजवाद हमें ऐसा वैचारिक ढांचा उपलब्ध करता है, जो हमें सामूहिक विनाश से बचा सकता है। रोजा लग्जम्बर्ग ने कहा था-समाजवाद या बर्बरतावाद। विश्व व्यवस्था में पूंजीवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप यदि समाजवाद नहीं आता तो बर्बरतावाद आएगा। इस दुनिया को बदलने की आवश्यकता है, ताकि एक दुनिया बनी रहे। समाजवाद के पास वैज्ञानिक और मानवीय चिंतन है। हमें अपनी उत्तरजीविता को समाजवाद से नत्थी करने की आवश्यकता है, ताकि मनुष्य जाति के साथ-साथ अन्य जीव जंतुओं का जीवन बना रहे।

पुस्तक-प्रो. रणधीर सिंह, अनु. जितेन्द्र गुप्ता, ग्रंथ शिल्पी, 2014

सम्पर्क : 94165-50290

जीना इसी का नाम है

गीता पाल

मोरनी हिल्ज के इलाके में अध्यापन कार्य करते हुए जीने के संघर्ष के साथ साथ आगे बढ़ने की ललक के अनेकों उदाहरण दिखाई दिए हैं जो अत्यंत विषम स्थिति मे भी अपने पांव आगे बढ़ाने की लालायित रहते हैं। ऐसी लड़कियों को सहयोग देना, मार्गदर्शन करना और उनके सुख- दु:ख साझे करते हुए विचार आया कि क्यों ना उनके संघर्ष की प्रेरणादायी कहानी को लेखनबद्ध किया जाए। फिलहाल ऐसी दो लड़कियों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है :

सुनीता इस वक्त मोरनी हिल्ज मे टीचर ट्रेनिंग का पहला वर्ष पूरा करने वाली है। वह अपने गाँव शाल्यों से ठंडोंग और ठंडोंग से बड़याल पहुंचने के लिए 2 से अढ़ाई घंटे पैदल चलती है और बड़याल से बस पकड़ कर मोरनी पहुंचती है। मोरनी से 20 मिनट पैदल चल कर वह 9 बजे तक अपनी संस्था में प्रशिक्षण के लिए पहुंचती है। इस प्रकार एक तरफ सफर करीब करीब साढ़े तीन से चार घंटे ले लेता है। शाम को वापसी का भी यही सिलसिला रहता है। मां बीमार रहती है। घरेलु काम निपटाने मे भी माँ की सहायता करना जरुरी है।

शुरुआत में निजी जीवन के बारे में बातचीत में असहज सा महसूस कर रही थी, लेकिन धीरे-धीरे खुल कर अपने बारे मे बताना शुरू कर दिया। गाँव में उनके चार-पांच ही घर हैं लेकिन आस पास के सारे घरों को जोड़ा जाए तो पूरे गाँव मेँ परिवारों की संख्या 40 के आसपास हो जाती है। मुख्यत: तीन राजपूत, कोली और चमार जातियों के परिवार वहां बसते हैं। जीवन यापन सभी जातियों के परिवारों का एक जैसा ही है लेकिन जमीन राजपूतों के पास सबसे अधिक है, कोलियों के पास और चमारों के पास तो ना के बराबर है।

सुनीता का परिवार खेती-बाड़ी से ही जीवन यापन करता हैं। खेती पूर्णत: बारिश पर निर्भर है और पिछले कुछ वर्षों से सूखे की स्थिति चल रही है। ऐसे में नकदी की दुविधा बनी रहती है। गांव में पीने के पानी की सप्लाई व्यवस्था नहीं है। नहाने-धोने और पीने के पानी के लिए पूरी निर्भरता एक बावड़ी पर है जहा पहुंचने के लिए करीब 15-20 मिनट लगते हैं।

अपनी दो बहनों का जिक्र करते हुए उसने बताया कि सन् 2005 मे उसकी सबसे बड़ी बहन जब स्कूल से वापस आ रही थी तो तेज बारिश मे फंस कर उसकी मौत हो गई थी। उसकी दूसरी बहन को घर वालों ने 8वीं के बाद पढ़ाने से मना कर दिया और 19 वर्ष की उम्र में उसकी शादी हिमाचल प्रदेश के सिरमौर जिले के एक गांव में खेती करने वाले परिवार में कर दी।

सुनीता को 8वीं के बाद पढ़ने के लिए संघर्ष करना पड़ा और लड़ते-झगड़ते, विषम आर्थिक-सामाजिक परिस्थितयों से जूझते हुए अपना जीवन स्वयं सवांरने को तत्पर है। उसे अपने रिश्तेदारों और गांव के लोगों से सशक्त विरोध झेलना पड़ रहा है जो उसके आगे पढ़ने के खिलाफ हैं। उनका मुख्य तर्क ये रहता है कि सुनीता द्वारा जंगल के रास्ते आना जाना खतरे से खाली नहीं है क्योंकि जमाना ख़राब है। लेकिन सुनीता किसी भी हालत में आत्मनिर्भर बनना चाहती है। इसके लिए सारे खतरों को समझते हुए भी चुनौती को स्वीकार किये है। अपने इलाके में लड़कियों की पढाई बीच मे छूट जाना, उनकी कम उम्र में शादी होना, मूलभूत सुविधाओं के बिना जीवन-यापन जैसी बातें सुनीता को कहीं गहरे में अखरती है और वह इस तस्वीर को बदलने के लिए दृढ निश्चयी है।

कविता, कहानियां पढ़ने और लिखने की अदम्य इच्छा रखती है सुनीता। फ़िलहाल तो कुछ फुर्सत, कुछ आराम के क्षण, कुछ मूलभूत सुविधाएं, थोड़ा सा खर्चा पानी, कुछ किताबें मिल पाएं तो जीवन को सवारंना थोड़ा आसान हो जाए। ऐसे में वार्तालाप करने के लिए कुछ भाषा में निखार, कंप्यूटर तकनीक से जान-पहचान, सामाजिक तहज़ीब, सामान्य ज्ञान में वृद्धि, फिल्म और मनोरंजन के साधनों से नज़दीकी आदि सवाल अभाव भरे जीवन की सलवटों को ख़त्म करने के लिए आवश्यक प्रतीत होते हैं और इसी के लिए प्रयासरत है एक बहादुर और संघर्षशील लड़की है सुनीता।

नीलम धनीर क्यार गांव की है जिसमें 2 घर है। आस पास के घर मिला कर कुल 5 परिवार धनीर गांव में रहते हैं।

धनीर गांव से ठंडोंग स्थित स्कूल तक आने के लिए एक तरफ कम से एक घंटे की पैदल यात्रा करनी पड़ती है। ठंडोंग स्कूल में कॉमर्स, इंग्लिश और इकोनॉमिक्स के प्राध्यापक ना होने की वजह से प्लस टू कॉमर्स का पूरा बैच अढ़ाई महीने के लिए मोरनी स्कूल में शिफ्ट किया गया।

अब नीलम के लिए अपने गांव से 2 घंटे पैदल चल कर शेरला ताल तक आना और वहां से बस से मोरनी आने तक करीब करीब 3 घंटे लगते थे । इसी प्रकार वापसी का समय मिला कर सर्दियों के मौसम में आवागमन में ही 6 घंटे लगाने का मतलब वो ही जान पाता है जिसने ऐसा जीवन देखा हो।

नीलम ने अभी अभी प्लस टू पास किया है 82 प्रतिशत नंबर लेकर। उसने मैट्रिक में भी 86 प्रतिशत अंक हासिल किये थे। वह बी कॉम करना चाहती है लेकिन अच्छे कॉलेज से। अपने घर से दूर जब वो मेरे पास रह कर प्लस टू की पढाई कर रही थी या परीक्षाएं दे रही थी तो बीच बीच में अचानक कुछ दिनों के लिए चली जाती थी। ज्ञात हुआ कि नीलम की मां मानसिक विक्षिप्तता की स्थिति में घर छोड़ कर कहीं दूर निकल जाती है और उन्हें ढूंढने में कई बार कई कई दिन लग जाते हैं।

विकट आर्थिक स्थिति, बाप का ना होना, मां की मानसिक विक्षिप्तता और ऊपर से स्कूल में अध्यापकों का ना होना और आन-जाने की इतनी जद्दोजहद। ऐसे में भी अगर नीलम 82 प्रतिशत अंक लेकर पास होती है तो क्या ये सुविधायुक्त सम्पन्न विद्यार्थियों द्वारा प्राप्त 98-99 प्रतिशत से किसी मायने में कम है?

स्कूल की अनेक गतिविधियों में शामिल होने को तत्पर रहने वाली इस हंसमुख लड़की के चेहरे को देखते हुए ये अंदाजा लगाना मुश्किल है कि कितनी विकट परिस्थितयों से संघर्ष करते हुए एक लड़की अपने आत्मविश्वास को संजोते हुए आगे बढ़ने का हौसला अपने दिल में रखे हुए है। 6 बीघे पहाड़ी ज़मीन पर मक्की, टमाटर, हल्दी, मिर्ची, उड़द आदि की फसल वर्षा पर निर्भर है। और एक दो वर्षों से सूखे की स्थिति है। घर का खर्चा मां को मिलने वाली विधवा पेंशन नीलम और उसके छोटे भाई को वयस्क होने की उम्र तक प्रत्येक को 500/- मिलने वाली राशि से चलता है। एक बड़ा भाई है खेती और पशुओं का काम संभाल रहा है। दूसरा भाई नीलम से छोटा है जो इस वक्त ठंडोंग स्थित स्कूल में दसवीं कक्षा में पढ़ रहा है और छुट्टियों के दौरान मज़दूरी करके कुछ पैसे कमा लेता है।

नीलम की दो बड़ी बहनों में से सबसे बड़ी ने प्लस टू के बाद मोरनी स्थित महिला पॉलीटेक्निक से कम्प्यूटर में 3 वर्षों का डिप्लोमा लिया था लेकिन उसकी शादी हिमाचल के एक गांव में खेती बाड़ी करने वाले एक परिवार में कर दी है। दूसरी बहन की प्लस टू करते ही उसकी शादी एक बेरोजगार युवक से कर दी गई। उनकी अवस्था देखते हुए नीलम की जिद्द है कि वो अपनी ज़िन्दगी की कमान दूसरों के हाथों में नहीं देगी और स्वयं अपना रास्ता तैयार करेगी।

इस वक्त उसे सबसे अधिक विरोध अपने परिवार से झेलना पड़ रहा है जो चाहते हैं कि नीलम को अब आगे ना पढ़ते हुए शादी करवा लेनी चाहिए। अब उसे घर की तरफ से आगे की पढाई के लिए किसी आर्थिक सहायता का कोई आसार नहीं दिखाई दे रहा है। लेकिन जिद्द तो जिद्द है और ये जिद्दीपन ही उसके जीवन को विस्तार देगा। एक सहज लहजे में वो कहती है कि उसे जीवन में आगे बढ़ना है और कुछ करना है। हर प्रकार की विषम परिस्थितियों के बावजूद वह चंडीगढ़ स्थित अच्छे कॉलेज से बी.कॉम करना चाहती है उसका तनाव रहित मुस्कराता चेहरा इस बात का सबूत है कि ये दुबली-पतली पहाड़ी लड़की अपनी आंखों में संजोए सपनों का मुकाम हासिल करके ही रहेगी। ●●

सम्पर्क: 9872647271

गोगा पीर की कथा
और
हमारा समाज

अमनदीप वशिष्ठ

गोगा जी कौन थे? जिनकी गाथा गांव-गांव आज भी गाई जाती है। आज के वक्त में, जबकि जातीय संघर्ष उबल रहे हैं, साम्प्रदायिकता उफान पर है। ऐसे में साहित्य, मनोविज्ञान, इतिहास या फिर समाजशास्त्र में रूचि रखने वालों को गोगा-क था से क्या प्राप्त होगा?

गोगा जी की कहानी सिर्फ एक कहानी नहीं है। इस कहानी में हरियाणा-राजस्थान की संस्कृति और समाज के रोचक पहलू छिपे हुए हैं। गोगा जी की कहानी दरअसल एक मॉडल है। एक ऐसा मॉडल या यूं कहें कि एक तरीका है जिससे हम अपने समाज के लोगों के मन में उतर सकते हैं। उनके सपने, उनकी खुशियां, उनके तौर-तरीके, उनका बीता हुआ कल और उनकी जरूरतों को समझ सकते हैं।

आम बोलचाल की भाषा में गोगा को गूगा या 'गूग्गा' बोला जाता हे। 'गूगा पीर' के नाम से जाने गए राजा जाहर वीर चौहान की याद में हर साल 'गूगा नवमी' का त्यौहार मनाया जाता है। देसी कैलेंडर के मुताबिक भाद्रपद महीने के कृष्ण पक्ष की नवमी को, यानी कृष्ण जन्माष्टमी के ठीक अगले दिन। राजस्थान में 'गोगामेड़ी' पर भारी मेला लगता है। गोगामेड़ी वो जगह है, जहां ये माना जाता है कि गोगाजी अपने घोड़े के साथ जमीन में समा गए थे। इससे पहले कि आगे कोई बात हो, वैज्ञानिक चित्त का कोई भी आदमी एकदम सवाल उठाएगा कि ये 'जमीन में समा जाना' कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं हो सकता। निश्चित ही कोई जीवित आदमी एक जिंदा घोड़े के साथ धरती में नहीं समा सकता। पर ये तो लोकगाथा की एक ख़ासियत है कि उसमें 'चमत्कार' और 'ऐतिहासिक सच' घुले मिले रहते हैं। हमारा जो पूरा वजूद है, उसमें तर्क के साथ स्वप्न भी होते हैं और उन सपनों की एक अलग भाषा होती है। समाज में व्याप्त लोक चेतना अलग भाषा गढ़ती है।

गोगा की कथा में गोगाजी दिल्ली के सुल्तान से लड़ते मिलेंगे। पर वो दिल्ली का सुल्तान मोहम्मद गौरी है या महमूद गजनवी या तुगलक, इसकी कोई जानकारी नहीं मिलेगी। मिथक लोकगाथा का एक केंद्रीय हिस्सा है। लोकगाथा का अपना ही एक ढांचा होता है। उसको देखने के अपने ही तरीके। लोकगाथाओं का एक रोचक पहलू ये भी है कि हमें लोकगाथा का एक ही तरह का पाठ नहीं मिलता। मान लीजिए गोगाजी की ही कथा सुनने चलें। तो मोटे तौर पर कहानी वही होगी पर छोटे-छोटे तथ्य बदलते रहेंगे। कोई लोकगायक कहेगा कि गोगाजी लड़ते हुए शहीए हुए। किसी के अनुसार वो भूमि में समा गए। किसी के अनुसार कथा आगे बढ़ती है और धरती में समा जाने के बावजूद गोगा जी अपनी पत्नी सिरियल से मिलने जाते रहे। वर्तमान में ये सब घुल मिल गए हैं। लोक गाथा बहुत जीवंत होती है। उसमें हर कलाकार-श्रद्धालु अपने हिसाब से जोड़ते-घटाते हैं।

आइए, गोगाजी महाराज की कथा का एक मोटा खाका खींचते हैं। राजस्थान में एक जगह है-ददरेवा। यहां राजा जेवर शासन करते थे। उनकी दो रानियां थी- काछल और बाछल। राजा की कोई औलाद नहीं थी। रानी बाछल की गुरु गोरखनाथ पर गहरी श्रद्धा थी। गुरु गोरखनाथ ने बाछल को संतान प्राप्ति के लिए एक फल देना चाहा जो धोखे से काछल ने ले लिया। काछल के दो बेटे हुए - अरजन-सरजन। पता लगने पर गोरखनाथ ने बाछल को गुग्गल दिया, जिसे बाछल ने पांच हिस्सों में बांट दिया। एक अपने लिए, तीन अपनी सहेलियों के लिए और एक बांझा घोड़ी के लिए। तो कुल मिलाकर पांच जीव इकट्ठे पैदा हुए। चार इंसान और एक घोड़ा। ये

पांचों पंजपीर कहलाते हैं। नर सिंह पांडे, भज्जू चमार, रतन सिंह भंगी और गोगाजी खुद। ये एक तरह से बहुजन समाज को प्रतिष्ठा देने वाला प्रतीक है। इस कथा में जो पांचों पीर हैं, उनमें जात-पात का भेद तोड़ दिया गया है। इन सबकी पूजा एक साथ होती है।

लोक गाथा के अनुसार बाछल के भाग्य में संतान थी ही नहीं। गोरखनाथ जी के प्रयत्न से एक सर्प ने ही बाछल के गर्भ से जन्म लिया। कुछ मान्यताओं के अनुसार वह खुद वासुकि नाग था, जिसे गाते हुए 'बासक नाग' कहा जाता है। कुछ अन्य लोग मानते हैं कि गुरु गोरख जी पाताल जाकर नाग के दांत के नीचे से दुर्लभ गुग्गल लाए जिससे गोगा हुए। ये एक मिसाल है कि कैसे रोचकता बढ़ाने के लिए लोकगायक मूल कथा में नए-नए बिंदू जोड़ते हैं।

इसके बाद गोगाजी का सिरियल के साथ विवाह का प्रसंग चलता है। यहां भी एक नाग गोगाजी की मदद करता है। वह है-ततिक नाग, जो संस्कृत काव्यों के 'तक्षक' नाग का ही अपभ्रंश है। सिरियल राजा संजा (संजय) की बेटी है और कथा में धूपनगर की रहने वाली है।

कथा का आखिरी हिस्सा युद्ध है जिसमें अरजन-सरजन राज पाने के लिए दिल्ली के सुल्तान की मदद लेते हैं और ददरेवा में लड़ाई होती है। अरजन-सरजन गोगाजी के हाथों मारे जाते हैं। गोगाजी की मां बाछल इस बात से नाराज होती है कि गोगाजी ने अपने ही मौसेरे भाई मार दिए। बाछल गोगाजी को हमेशा के लिए चले जाने को कहती है। गोगाजी गोगामेड़ी नामक जगह पर जमीन में समा जाते हैं।

हालांकि कहानी का यहीं अंत नहीं होता। गोगाजी अपनी पत्नी सिरियल से वायदा करते हैं कि रात में सांप के रूप में उनसे मिलने आया करेंगे। रानी सिरियल गर्भवती हो जाती है तो उसकी सास बाछल संदेहग्रस्त होती है। गोगाजी अपना रूप दिखाकर बाछल का शक दूर करते हैं पर साथ ही यह भी कहते हैं कि इसके बाद वे कभी महल में नहीं आएंगे।

ये बहुत संक्षेप में गोगाजी की कथा है। गोगाजी की कथा को पूरी रात भर गाया जाता है। इसे 'साका' कहते हैं। जिसमें 'डेरू' नामक वाद्ययंत्र का प्रयोग होता है। गोगाजी एक चौहान राजा थे। धीरे-धीरे वो अपने समाज के नायक और फिर नागों के देवता बने। उनके चित्र में सिर पर नागों का छत्र बनाया जाता है। राजस्थान के ही एक अन्य लोकदेवता तेजा जी भी सांपों के देवता माने जाते हैं। गोगाजी और तेजाजी के बारे में मान्यता है कि इनकी पूजा से नाग परेशान नहीं करते।

अगर हम भारतीय लोक कथाओं को सुनें तो उन सबमें ही 'नाग' एक ताकतवर प्रतीक के रूप में मौजूद है। भारतीय शास्त्रों में जिस 'कुंडलिनी शक्ति' का जिक्र है, वो कुंडलिनी भी सर्पाकार ही है। अगर हम मानव के स्वभाव की बात करें तो उसमें दो चीजें बहुत ताकतवर है- 'डर और ताकत'। नाग का प्रतीक इन दोनों को अपने में समेटे हुए है। उसमें भय भी है और जहर के कारण ताकत भी। फिल्मी कहानियों में भी नाग-नागिन लोकप्रिय विषय रहे हैं। ये भी ध्यान देने लायक बात है कि सांप बारिश के महीने में ज्यादा निकलते हैं और गोगाजी का त्यौहार भी बारिश के महीने में मनाया जाता है।

अब एक बार दोबारा गोगाजी के जमीन में समाने के बिंदू पर आते हैं। ये वो बिंदू है जो गोगाजी को मुस्लिम परंपरा के साथ जोड़ता है। हिन्दू परंपरा से निकटता रखने वाले कहते हैं कि सोमनाथ को लूटकर जाते हुए महमूद गजनवी के साथ गोगाजी ने वीरतापूर्वक युद्ध किया। गजनवी की सेना बहुत विशाल थी और गोगाजी की मित्र सेनाएं पहुंची नहीं थी। अत: गोगाजी उस लड़ाई में गजनवी से लड़ते हुए शहीद हुए।

रोहतक के पास के एक लोकगायक से दूसरे ढंग की कहानी सुनी। उसके अनुसार अरजन-सरजन को हराकर मारने के बाद गोगाजी की मां ने उन्हें हमेशा के लिए चले जाने को कहा। गोगाजी धरती में समाने के लिए तैयार हुए। पर धरती ने कहा कि 'हिन्दुओं के लिए अग्नि है और मुसलमान के लिए धरती।' यहां ये कहने का अर्थ कुछ यूं रहा कि मरने के बाद हिन्दू को जलाया जाता है और मुसलमान को दफनाया जाता है। गोगाजी इशारा समझ गए और उन्होंने 'ढाई कलमें' पढ़ीं। 'ढाई कलमें' पढ़ने के बाद वे मुसलमान बने और धरती मां ने उन्हें अपने भीतर जगह दी।

गोगाजी के साथ कायमखानी मुस्लिमों को विशेष लगाव रहा है। राजस्थान के एक कवि 'जान' ने 'कायमखान रासो' लिखा है। इस किताब में गोगाजी का जिक्र है। कायमखानी मुस्लिमों के पीछे भी एक कहानी है। चौदहवीं शताब्दी में ददरेवा के राजा मोटेराव चौहान थे। उनके बेटे करमचंद ने तुगलक और सैयद नासिर के प्रभाव से इस्लाम ग्रहण किया। मुसलमान बनने के बाद करमचंद का नाम कायम खान हुआ। इस कायम खान और कायम खान के भाइयों के वंशज कायम खानी कहलाए। चूंकि ये सब गोगाजी के ददरेवा से संबंध रखते थे तो स्वाभाविक रूप से इनका गोगा पीर से विशेष ताल्लुक रहा। गोगाजी का काल लगभग 11वीं शताब्दी माना गया है। हालांकि इस बारे में कुछ भी पक्के तौर पर नहीं कहा जा सकता, पर ज्यादातर विद्वानों का यही मत है।

गोगाजी की कथा के सामाजिक मतलब क्या हैं? एक तो ये कि गोगाजी की कथा में भी, गोगाजी की कथा गाने वाले गायकों में तथा अनुयायियों में भी बहुजन चेतना बहुत ताकतवर है। उनकी जातीय पृष्ठभूमि दलित जातियों की है, जहां उन्हें पूरी आवाज मिलती है। हालांकि अब धीरे-धीरे गोगाजी पर मिलने वाले धार्मिक साहित्य का संस्कृतिकरण हुआ है। अन्य देवताओं की तर्ज पर 'गोगा-चालीसा', गोगा-व्रत कथा, गोगा-पुराण उपलब्ध होने लगे हैं। मुस्लिम समाज में जैसे-जैसे कट्टर इस्लाम का प्रचार बढ़ा है, वे अपने को लोक देवताओं से अलग हटा रहे हैं। लोक देवताओं की खास बात ये है कि इनके पीछे शास्त्रों की नहीं, बल्कि लोगों के प्रेम और श्रद्धा की ताकत होती है।

गोगाजी जैसे लोक देवताओं का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू ये है कि इनमें हवाई दार्शनिकता नहीं है। इनको मानने वाला रोज की समस्याओं के लिए गोगाजी के पास जाता है। बुखार, सांप का काटना, बच्चा न होना या फिर अच्छी फसल। यहां मोक्ष, निर्वाण या परलोक जैसी बड़ी-बड़ी बातें नहीं हैं। यहां जमीनी दिक्कतों की बातें हैं। ये 'पारलौकिकता' के सामने 'इहलौकिकता' की प्रतिष्ठा है। यहां इंसान अपनी शूरवीरता से देवता बना है। उसके साथी प्रकृति में पाए जाने वाले नाग और घोड़ा हैं। गोगाजी सिर्फ हरियाणा-राजस्थान के ही नहीं, बल्कि उत्तर भारत के समस्त ग्रामीण जन के दिलों की धड़कन हैं। गोगाजी का अध्ययन धार्मिक ही नहीं, बल्कि हमारी सामाजिक सांस्कृतिक जरूरत भी है। ●●

सम्पर्क : 97294-82329

पाठक पन्ना

संपादक महोदय,

फरवरी मास में हुई त्रासदपूर्ण घटनाओं पर अपना अनुभव साझा करना चाहता हूँ:

पहले यह बता दूँ कि मैं सन् 1947 के देश विभाजन के समय लगभग सात वर्ष का था, सो तब की घटनाओं की याद करके अब भी काँप उठता हूँ। और अब 75 की वय में अब की घटनाओं को याद करके उससे भी अधिक काँपने लगता हूँ ।

इस साल जनवरी में मुझे मुल्ताई (जिला बैतूल, मध्य प्रदेश) के स्नातकोत्तर शासकीय कालेज से निमंत्रण आया कि फरवरी अंत में दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में पत्र पाठ करूँ। विषय था 'लोक साहित्य में संवेदना एवं सामाजिक सरोकार'। मुझे इस संदर्भ में हरियाणवी लोक साहित्य पर पत्र पढ़ने को कहा गया। मैंने हामी भर दी और लोक कवियों की श्रेष्ठ रचनाओं का अध्ययन करना शुरू कर दिया तथा उन्हें पढ-पढ़ कर अभिभूत होता रहा। मेरी पत्नी को भी साथ जाना था। बेटे ने दिल्ली से 24 फरवरी की ट्रेन बुकिंग यथासमय करवा दी। 23 फरवरी तक हम हालात सुधरने की प्रतीक्षा करते रहे। पर आगजनी लूटपाट थमने का नाम ही नहीं ले रहे थे। रास्ते सब बंद थे। दिल्ली तक पहुँचना ही असंभव लग रहा था। यदि ख़तरा उठा कर हम चल भी पड़ते तो सुदूर प्रदेश में मैं कैसे अपनी मान्यताओं से न्याय कर पाता। क्या उनके अटपटे प्रश्नों का उत्तर दे पाता। शायद शर्म से सिर झुकाना पड़ता। ये सब सोच कर बेटे को कह सीटें कैंसिल करवा दीं। साथ ही एक महान लोक साहित्य की महान धारणाएं भी केंसल हो गयीं, खासतौर पर इसलिये भी कि लुटपुट आए हम विस्थापितों ने कभी आरक्षण की भीख नहीं मांगी थी ।

अमृतलाल मदान कैथल -94662-39164

●●

प्रिय भाई सुभाष जी

मार्च अप्रैल का अंक मैंने देखा। कुछ चीजें पढ़ीं। पिता (कृष्ण बैनीवाल) रौशन ख्याल थे, तो घर का माहौल भी वैसा रोशनी आमेज रहा। उसका असर अनुराधा बेनीवाल पर पड़ा। खुले किवाड़ों से आती ताजादम हवाएं उनकी शख्सियत को मेयार देती रहीं। उनकी तहरीलें बेबाक और खुशख्याल हैं।

कुलदीप कुणाल अपनी कविताओं के जरिए आश्वस्त करते हैं कि वो नए शिल्प की तैयारी में हैं। रमणीक मोहन की कविताएं उर्दू नज्म के प्रभाव से लिखी गई हैं। हिन्दी कविता में ऐसा बहुत कम है। लेकिन होना चाहिए। इससे लय और रवानी अल्फाज और विचार के साथ गूंजती है। कहीं कहीं मीटर टूटता भी है।

अंक अच्छा लगा। कबीर के पद फिर से पढ़ना भी शानदार इत्तेफाक रहा।

सद्भाव

ज्ञान प्रकाश विवेक-09813491654

●●

'देस हरियाणा' पत्रिका का अंक-5 मिला। पत्रिका के अंदर संकलित रचनाएं बहुत अच्छी लगी। संत राम उदासी की कविताएं पढ़कर उत्साह मिला और कहानियां भी बहुत अच्छी हैं। 'देस हरियाणा' पत्रिका के संपादक मंडल की पत्रिका प्रकाशन के लिए जितनी प्रशंसा की जाए उतनी कम है।

जहां पत्रिका सराहनीय है, वहीं कुछ सुधार की जरूरत भी है, ताकि तार्किक व वैज्ञानिक सोच को बढ़ाया जा सके। मैं कुछ सुधारों की ओर संकेत करूंगा।

1. संपादकीय में एक जगह लिखा है, 'अकूत मुनाफा कूटने के लिए मालिकों को मजबूर कमजोर वर्क-फोर्स चाहिए।' मुझे लगता है कि कोई भी किसान व मजदूर, महिलाएं मजबूर नहीं शोषित होते हैं। हमें इस तरह के शब्दों के इस्तेमाल से बचना होगा, ताकि हम मेहनतकश को अहसास दिला सकें कि आप की यह जो हालत हुई है, इसके पीछे शोषणकारी नीतियां हैं और इनको बदला जा सकता है।

2. संपादकीय में ही एक जगह लिखा है, 'काशी के इस जुलाहे की चेतना को धारण करने की जरूरत है।' अपने समय के परिवर्तनकारी लोगों का जाति विशेष से ऊपर उठकर वर्गीय दृष्टिकोण से अवलोकन व चिंतन करने की जरूरत है। आज कबीर को सभी धर्मों व जातियों में एक समान से पढ़ा व सुना जा रहा है। जातिय, धार्मिक, लैंगिक व क्षेत्रियता से आगे बढ़कर हमें ऐसे युगपुरुषों के विचारों का प्रचार-प्रसार करना चाहिए।

3. हमें रचनाओं का चयन करते हुए पत्रिका के उद्देश्य को ध्यान में रखना बहुत जरूरी है। नफीस अहमद 'मुबारक' की कविता 'एक मुन्ने की अभिलाषा' में कुछ पंक्तियां है 'और कुछ बी ना बाप मैं/एक फौजी जरुर बणजाउंगो/करुंगो वतन की रक्षा मैं/ दुश्मन है मार भगाउंगो।' यदि आज के संदर्भ में हम देखेंगे तो जबरन भूमि अधिग्रहण के लिए व मजदूरों के दमन के लिए ही फौज का इस्तेमाल किया जाता है। देश की रक्षा का मतलब अंबानी/अडाणी की रक्षा, करना हो गया। हमें सोचना होगा कि किस दुश्मन को मारने की बात की गई है, क्योंकि हमारा दुश्मन सरहद पार नहीं, सरहद के अंदर ही है।

4. हमें हर प्रकार के धार्मिक प्रतीक चिन्हों से पत्रिका को बचाना होगा। हमें ऐसी रचनाएं पत्रिका में नहीं देनी चाहिए जो किसी खास धर्म के प्रतीक को बढ़ावा दें। 'उस दिन' कविता बहुत अच्छी है, लेकिन एक लाईन है 'ना किसी ने घर के आगे खड़ी गाय को रोटी दी' रोटी किसी भी पशु व जानवर को दी जा सकती है, लेकिन गाय एक धार्मिक प्रतीक बन चुकी है और इस प्रतीक के कारण हजारों आशियानें उजड़ चुके हैं लाखों-करोड़ों दिलों में दरारें पैदा हो चुकी हैं।

5. पत्रिका के अंत में निशा 'सत्यजीत' की पहेलियां दी गई हैं जो स्पष्टत: सामंती मानसिकता को दर्शाती हैं। हमें नई-नई पहेलियां बनाने की जरूरत है, लेकिन वो पहेलियां ऐसी हों जो लैंगिक भेदभाव न दिखाएं, बल्कि बराबरी पर रखें और यदि इस तरह की पहेलियां प्रकाशित हों तो उनके साथ संपादकीय टिप्पणी दी जाए।

(क) एक महल में दो भाई।
उत्तै बांध्या एक लुगाई।।

इस पहेली के जवाब में ना जाकर यदि हम इसके सामाजिक स्वरूप पर नजर दौड़ाएं तो मालूम होगा कि यदि दो भाइयों में से

एक की शादी हो जाए तो उस औरत को वो दोनों प्रयोग या इस्तेमाल कर सकते हैं। केवल औरत उपभोग की वस्तु नहीं वह एक इंसान है, उसके अपने मानवीय मूल्य हैं।

(ख) एक रांड चंगी-मंगी, छः नाड़ा लटकावै।
मर्दा बीच कबड्डी घाल्ले, वाह भी नार कहावै।

इस पहेली का मतलब है कि विधवा औरत कोई श्रृंगार नहीं कर सकती और वह ना ही किसी के साथ हंसी-मजाक कर सकती है। हमें सचेत होना होगा कि हम किस संस्कृति को आगे लेकर आएं।

(ग) टांड पै टांड, टांड पै बुहारी।
बता तो बता, ना तेरी मां लुहारी।।

क्या किसी जाति विशेष में पैदा होना गलत है? या फिर किसी को हीन दिखाने के लिए जाति विशेष के शब्दों का प्रयोग करना ठीक है?

मैंने पहली बार पत्र लिखा है हो सकता है लय तुक के साथ-साथ भाषायी गलती भी हो। इन सब पर ध्यान न देते हुए मेरी भावनाओं को समझने की कोशिश करें। एक बार पुनः संपादक मंडल को एक ऐसी पत्रिका के लिए हार्दिक बधाइयां जो सामाजिक व सांस्कृतिक मंच के निर्माण के लिए प्रतिबद्ध है।

संदीप कुमार-89303-37301

●●

'देस हरियाणा' पत्रिका का मई-जून 2016 का अंक मुझे प्राप्त हुआ तो मुख्य पृष्ठ पर कबीर की फोटो के साथ कबीर की पंक्तियां देखकर ही अंक की ताकत का पता चल गया। इस पत्रिका के शुरूआती पृष्ठों में संपादकीय 'देख कबिरा रोया' को पढ़कर श्रमिकों व देश की व्यवस्था समझ में आई जो बेहद झकझोरने वाली थी। कहानियों में 'जब छोरे गाबरू होंगे' प्रभात सिंह की यह कहानी जमींदारी शोषण की दास्तान को व्यक्त करती है। वहीं गुलजार की कहानी 'रावी पार' दंगों पर आधारित जो इंसान को अंदर तक झकझोर देती है। वर्तमान में कबीर की प्रासंगिकता दर्शाते दो लेख हैं।

'देस हरियाणा' द्वारा आयोजित कार्यक्रमों पर आधारित रिपोर्ट है, जिसमें प्रो. जगमोहन का वक्तव्य दिया गया है, जो काफी ज्ञानवर्धक व प्रेरणादायी है। अनुराधा बैनीवाल अपनी यात्रा के अनुभव व लड़कियों की आजादी की बात करती हैं, जो हरियाणा के संदर्भ में बहुत ही बेहतरीन हैं। 'आंखिन देखी' में सुरेन्द्रपाल सिंह व सुधीर रमणीक की रिपोर्ट जाट आरक्षण में हुई हिंसा की वीभत्सता को व्यक्त करती है, तो शिक्षा-विमर्श पर सी.एन. सुब्रहमण्यम का लेख हमारी शिक्षा व्यवस्था पर करारी चोट करता है। आलेख शीर्षक में 'मई दिवस की कहानी' मुकेश कुमार का 'ईंट भट्ठा उद्योग : महिलाओं का जीवन एवं बालश्रम' व अरूण कैहरबा का 'घुमंतू जीवनः सीकलीगर समुदाय' हमें समाज की सच्चाइयों से मुखातिब कराते हैं। कविताओं में संतराम उदासी की क्रांतिकारी कविताओं का परमानंद शास्त्री द्वारा अनुवाद बहुत ही कमाल का है। 'युवा कलम' शीर्षक से कुलदीप कुणाल की कविताएं नारी का सशक्तिकरण करने वाली है। वहीं साम्प्रदायिक राजनीति पर करारी चोट करती हैं। राजेश दलाल, रामधारी खटकड़, मुनीश्वर देव, दयानंद मायना आदि की रागनियां हरियाणवी संस्कृति की उपस्थिति दर्ज करवाती हैं। बजरंग बिहारी तिवारी की पुस्तक 'दलित साहित्यः एक अन्तर्यात्रा' की सटीक समीक्षा की है कमलानन्द झा ने। पत्रिका में कबीर दोहे, अलग-अलग देशों की लघु कथाएं व निशा सत्यजीत की हरियाणवी पहेलियां पत्रिका में चार चांद लगाती हैं। अगले अंक का बेसब्री से इंतजार।

अनूप कुमार- 94160-70006

●●

'देस हरियाणा' हरियाणा की एक प्रगतिशील पत्रिका है। मैं 'देस हरियाणा' पत्रिका को पहले अंक से ही पढ़ रहा हूं। हर बार कुछ नया पढ़ने व सीखने को मिलता है। पत्रिका को पढ़कर मेरे विचारों में गंभीरता का समावेश हुआ है। 'देस हरियाणा' के सम्पादकीय पृष्ठों में प्रत्येक अंक से जुड़े विमर्श को गंभीरता से प्रस्तुत किया गया है। पत्रिका के प्रत्येक अंक की विषय सामग्री में कविता, लेख, कहानी, लघु-कथा, पहेलियां, संवाद आदि सभी रोचक एवं ज्ञानवर्धक होती हैं। मार्च-अप्रैल के अंक 4 में स्त्री विमर्श, शहीद भगत सिंह एवं डा. भीमराव आम्बेडकर को पढ़कर इन तीनों विषयों के प्रति मेरी समझ में बहुत अधिक निखार आया है। भगत सिंह के पत्रों 'पिता को लिखा' और 'साथियों को लिखा अंतिम पत्र' अपने 'छोटे भाई कुलतार को लिखा पत्र' और 'सुखदेव को लिखे पत्र' एवं 'साम्प्रदायिक दंगे और उनका इलाज' तथा 'अछूत की समस्या' लेख में भगत सिंह ने अछूतों एवं आज के तथाकथित दलितों को आह्वान करते हुए कि तुम ही इस देश के मुख्य आधार हो। संगठनबद्ध हो जाओ, तुम्हारे पूर्वजों की कुर्बानिनयां स्वर्ण अक्षरों में लिखी हुई हैं। इन सब पत्रों को पढ़कर पता चलता है कि शहीद भगत सिंह दलितों व पिछड़ों के प्रति कितने संवेदनशील थे और उनके पत्रों 'साम्प्रदायिक दंगे व उनका इलाज' से पता चलता है कि 23 वर्ष की उम्र में ही उनकी कितनी वैज्ञानिक एवं तार्किक समझ थी। वे इस छोटी सी उम्र में भी सभी समस्याओं का न्यायिक व बौद्धिक दृष्टिकोण से हल ढूंढ रहे थे।

अनिल चमड़िया के लेख अपनी समग्रता में डा. आम्बेडकर को पढ़कर पता चला कि आम्बेडकर की विचारधारा किसी एक प्रतीक से नहीं जुड़ी है। सुभाष गाताड़े ने भी अपने लेख 'डा. आम्बेडकर का सवाल-हमारे वाल्टेयर कब पैदा होंगे' में बताया है कि किस प्रकार यहां उत्पीड़कों व शोषितों के नेताओं की विद्रोही छवि को बिगाड़ने का प्रयास किया है। विरेन्द्र भाटिया की कविताएं बहुत ही अच्छी लगी।

'देस हरियाणा' के मई-जून के अंक पांच में मुकेश कुमार के लेख 'भट्ठा उद्योग : असंगठित क्षेत्र में खटता महिलाओं का जीवन एवं बाल श्रम' को पढ़ने पर महिलाओं के जीवन और बच्चों के हालातों से संबंधित चौंकाने वाले आंकड़े सामने आए। भट्ठों पर काम करने वाली महिला मजदूरों के लिए कोई सुरक्षा व सुविधा सरकार द्वारा मुहैया नहीं कराई जाती है। भट्ठे पर काम करने वाली महिलाओं एवं पुरुषों का कहीं भी कोई सरकारी पंजीकरण नहीं है। 'मैं काशी का जुलाहा बुझहू मोर गियाना' लेख में डा. सेवा सिंह द्वारा लिखित कबीर का ब्राह्मणवाद के खिलाफ विद्रोही रूप पहली बार पढ़ा। कबीर के सैंकड़ों वर्षों पहले क्रांतिकारी पद आज भी प्रासंगिक हैं। कृष्ण बेनीवाल के लेख 'हमारी कल्चर व समाज सारा ही सेक्सुअल' में उन्होंने समाज को दोषी ठहराते हुए बताया है कि अगर किसी लड़की-लड़के के साथ कोई घटना घटती है, बलात्कार होता है, तो इसके लिए हमारा समाज जिम्मेवार है। रोजलीन व कुणाल की कविताएं बहुत अच्छी लगी।

राजेश मानव - 8930768976

●●

प्रभुत्व बरकरार रखने के लिए जाट संघर्ष

सुरिन्द्र एस जोधका

हरियाणा सांप्रदायिक और जाति आधारित हिंसा के लिए जाना जाने वाला राज्य नहीं है पर बीती उन्नीस फरवरी से लेकर पांच दिनों तक यह राज्य अपने इतिहास के सबसे भयानक दंगों का गवाह बना, जिसमें तीस के करीब लोग मारे गए और करोड़ों की सम्पति फूंक दी गई, नष्ट कर दी गई। इसकी वजह जाट समुदाय के द्वारा अन्य पिछड़ा वर्ग में शामिल किए जाने और इसके तहत आरक्षण की मांग को लेकर चलाया गया आंदोलन था। प्रशासन में इस आंदोलन को लेकर असमंजस की स्थिति इसलिए बनी रही, क्योंकि जाट समुदाय आर्थिक और सामाजिक रूप से आगे बढ़ा हुआ माना जाता रहा है।...फिलहाल तो हिंसा खत्म हो गयी है पर यह दानव कभी भी अपना सर उठा सकता है।

जाति को सबसे बेहतर ढंग से क्षेत्रीय संदर्भ में ही समझा जा सकता है। वहीं शास्त्रीय पाठों पर आधारित इसका अधिक लोकप्रिय परिप्रेक्ष्य इसे 'वर्ण व्यवस्था' के रूप में ग्रहण करता है जोकि श्रेणीगतता का एक स्थूल मॉडल भर है, जिसे कथित तौर पर पूरे भारत के संदर्भ में सही माना जाता है। पर इस मॉडल से स्थिति साफ होने के बजाये उलझती अधिक है। प्राचीन कृतियों से निकाले गए इस मॉडल की लोकप्रियता और स्वीकार्यता बढ़ाने में ब्रिटिश औपनिवेशक शासन की महती भूमिका थी। इस साम्राज्य ने इस मॉडल के तहत सन् 1872 में जातियों की गणना शुरू की थी। पर बावजूद तमाम रिपोर्टों के जिनके अनुसार इस मॉडल से भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों में जाति की समझ बढ़ने के बजाए बाधित हो रही है। उन्होंने जाति को लेकर अपनी अवधारणा में कोई परिवर्तन नहीं किया।

बाद में समाज विज्ञानियों ने वर्ण के स्थान पर 'जाति' की श्रेणी का इस्तेमाल करना शुरू किया, जोकि नातेदारी पर आधारित थी और अनुभवजन्य ज्ञान के अधिक निकट थी। पर वे भी जाति को एक अखिल भारतीय हकीकत के रूप में देखते आए जो लगभग-लगभग हर क्षेत्र में श्रेणीगतता के उसी स्वरूप में नुमांया होती है। कालांतर में यही परिप्रेक्ष्य भारतीय राज्य द्वारा आरक्षण की नीति तय करने के लिए स्वीकार कर लिया गया और परिणामत: धीमे-धीमे संस्थानीकृत भी होता गया।

इस परिप्रेक्ष्य का यह असर हुआ है कि अब स्वयं जातियां भी अपने-आपको इसी परिप्रेक्ष्य के तहत देखने लगी हैं और भारतीय सामाजिक संरचना की इस सरकारी व्याख्या के अनुसार अपने-आपको 'वर्ण' श्रेणीगतता के तहत पिछड़ा हुआ मानकर आरक्षण की मांग करने लगी हैं। यहां तक कि वे राजनीतिक कार्यकर्त्ता जो जाति से लड़ने के लिए प्रतिबद्ध हैं वे भी जाति को इसी फ्रेम में रखकर देखते हैं। पर इस मॉडल की सीमाओं को समझने के लिए पंजाब और हरियाणा में जाटों के उदाहरण का उल्लेख किया जा सकता है। भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र के राजनीतिक और सामाजिक परिदृश्य पर सामान्य नजर रखने वाला भी जानता होगा कि जाट समुदाय ग्रामीण क्षेत्रों में कितना प्रभुत्वशाली समुदाय रहा है। संसदीय लोकतंत्र की स्थापना ने उन्हें क्षेत्रीय स्तर पर बेहद सशक्त बनाया है। यही नहीं वे अपने आसपास दूसरों या अन्यों से स्वयं को सामाजिक रूप से भी श्रेष्ठ समझते हैं और वे 'अन्य' कभी भी उनके इस दावे से मतभेद प्रदर्शित नहीं करते।

इस जाट प्रभुत्व के प्रमुख कारण रहे हैं कृषि योग्य भूमि पर उनका गहरा नियंत्रण, उनकी जनसंख्या और गांव से बाहर के उनके गहरे सम्पर्क सूत्र इत्यादि। हालांकि वे हरियाणा की कुल जनसंख्या के चौथाई ही हैं पर फिर भी वे ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि योग्य भूमि के कम से कम तीन-चौथाई के मालिक हैं।

इस क्षेत्र में जाति व्यवस्था बेहद मजबूत है पर भारत के इस उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में ब्राह्मणवाद की विचारधारा की कभी भी बहुत मजबूत नहीं रही। यहां पर 'खुदकाश्त' का मूल्य बेहद असरकारी रहा है। बल्कि इस मूल्य के आधार पर हम इस क्षेत्र के सामाजिक स्तरीकरण की संरचना को थोड़ा-बहुत समझ भी सकते हैं।

यहां पारम्परिक अर्थ में कोई जमींदार नहीं रहा है और ना ही अनुपस्थित जमींदार की श्रेणी जो भारत के अन्य क्षेत्रों में लागू होती रही है यहां कारगर रही है। जो भी व्यक्ति अपनी जमीन जोतता रहा हो और किसी अन्य की जमीन पर खेतिहर मजदूर के तौर पर काम न करता रहा हो वो जमींदार कहलाने के लायक रहा है बशर्ते वो सही जाति के अंतर्गत आता हो। यहां तक की ग्रामीण हरियाणा में ब्राह्मण भी अपने-आप को खुदकाश्त के रूप में देखते हैं और इसलिए प्रभुत्वशाली जाटों जैसे ही लगते हैं।

सन् 60 और 70 के दशक में इस क्षेत्र में हरित क्रांति की सफलता जाटों के लिए ढेर सारी सम्पन्नता लेकर आई और उनके प्रभुत्व को और भी पुख्ता किया। हालांकि हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अन्य समुदायों की तरह जाटों में भी कई तरह की श्रेणियां हैं, जहां कुछ सम्पन्न

किसानों के पास बड़े-बड़े खेत हैं, वहीं ज्यादातर जाट मझोले या छोटे किसान ही हैं।

व्यवसायिक खेती में बढ़-चढ़ के भागीदारी करने के कारण जाट शहरी जीवन के काफी नजदीक आए। ना केवल वे खेती संबंधित जरूरतों के लिए आसपास के शहरों तक आने-जाने लगे, बल्कि वे अपने बच्चों को शहरी कालेजों और विश्वविद्यालयों में पढ़ने के लिए भी भेजने लगे। सम्पन्न किसान तो अपनी बेटियों तक को दूर शहरों और कस्बों में स्थित विश्वविद्यालयों में पढ़ने के लिए भेजने लगे।

एक अलग तरह का खेती संकट

कर्ज के अपमान से बचने और सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में आती निरंतर अवनति से छुटकारा पाने के लिए किसानों की आत्महत्याएं भारत के विभिन्न क्षेत्रों में पिछले दिनों में आम होती गई हैं। पर इस कृषि संकट की विभीषिका और अनुभव क्षेत्रों और समुदायों के हिसाब से अलग-अलग रहे हैं। इसे समझने के लिए यह समझना जरूरी है कि भारत का ग्रामीण परिदृश्य केवल जाति के आधार पर ही नहीं, भूमि स्वामित्व के आधार पर भी बंटा हुआ है।

उदाहरण के लिए दलितों के पास और अन्य पिछड़ा वर्ग समूह में निचली श्रेणी पर आने वाली जातियो के पास खेती लायक जमीन का स्वामित्व ना के बराबर है। हरियाणा के दो गांवों में 2009 में किया गया मेरा अध्ययन भी यही दिखाता है कि इन दो श्रेणियों के लगभग 90 प्रतिशत घर पूरी तरह से भूमिहीन है। पर आंतरिक रूप से श्रेणियों में बंटे हुए होने के बाद भी यह कहा जा सकता है कि जाटों के बीच भूमिहीन ना के बराबर हैं। इसके अलावा प्रभुत्वशाली वर्ग होने की वजह से अन्य स्रोतों और संसाधनों तक इनकी गहरी पहुंच है जबकि दलित और अन्य भूमिहीन ऐसे किसी तंत्र से कोसों दूर है।

ऐसा नहीं है कि इस कृषि संकट से जाट अछूते रहे हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी उनकी जमीन सिकुड़ती जा रही है। नए विकल्पों के अभाव में वे अपने पेशे में विविधता लाने के लिए और खेती छोड़ने के लिए विवश हैं। इसीलिए वे अपनी आय को अपने बच्चों को शिक्षित करने में लगा रहे हैं, ताकि वे कृषि से बाहर निकलकर किसी और क्षेत्र में सम्मानपूर्वक नौकरी कर सकें।

ऐसा भी नहीं कि यह संकट केवल आर्थिक है यह उतना ही सांस्कृतिक भी है। भारत के उत्तर-पश्चिम में बसे समुदाय अपनी जमीन जोतने को लेकर जैसा गौरव धारण करते आए हैं वह पिछले दो दशकों में जाता रहा है। उदारीकरण के बाद के भारत में जो सबसे लुभाने वाली नौकरियां हैं वे शहरी इलाकों में हैं और उनमें भी कार्पोरेट क्षेत्रों में रही हैं। हालांकि ओबीसी कोटे के तहत शामिल किए जाने से जाटों को सीधे-सीधे कार्पोरेट क्षेत्र में एंट्री नहीं मिलने वाली है पर वे ऐसा मानते हैं कि आरक्षण की बदौलत वे अपने बच्चों को आईआईटी और आईआईएम जैसे संस्थानों में पढ़ा सकते हैं, जो इस क्षेत्र में उनके प्रवेश को सुगम बना सकता है। ऐसा उन्हें इसलिए भी लगता है क्योंकि उनसे निचली सामाजिक हैसियत वाली अन्य जातियां ओबीसी सर्टीफिकेट के चलते ऐसा संस्थानों में आसानी से दाखिला पा लेती हैं।

हालांकि हरियाणा में जाट और गुजरात में पटेल अपने 'शूद्र' दर्जे का हवाला देते हुए अन्य पिछड़ा वर्ग की श्रेणी में शामिल किए जाने और उसके तहत आरक्षण मिलने की मांग करते हैं पर यह ध्यान देने योग्य है की उनकी राजनीति ओबीसी श्रेणी के अंतर्गत आने वाली गरीब, जरूरतमंद और वाकई पिछड़ी जातियों के खिलाफ खड़ी हुई है। जहां वे आरक्षण के लिए लड़ रहे हैं, वहीं उनकी लड़ाई को आरक्षण की मूल भावना के विरुद्ध भी देखा जा सकता है। उनका संघर्ष इसलिए नहीं है कि उन्हें भी समान रूप से मौके मिलें और चंद वर्गों का प्रभुत्व खत्म हो, बल्कि इसलिए है कि वे अपने खोये हुए विशेषाधिकार और प्रभुत्व को वापस पाना चाहते हैं।

अत: उनकी दबाव डालने वाली राजनीति समाज में अलगाव की स्थिति पैदा करेगी। ओबीसी श्रेणी के तहत आने पर उनको मिलने वाले फायदे उन समुदायों की कीमत पर होंगे, जिन्हें अपनी सामाजिक स्थिति के चलते वाकई इस श्रेणी में होना चाहिए। जो वाकई आरक्षण के हकदार हैं उन्हें इस श्रेणी के तहत सीमित सीटों पर जाटों से प्रतिस्पर्धा करनी होगी और बड़ी आशंका है कि वे असफल ही रहेंगे। ●●

साभार-समरथ, जनवरी-अप्रैल 2016

लघु कथा

मां का मोल

रेनू शर्मा

'देखो जी आपणी इस बूढ़ी ठेरी मां तांई कह द्यो अक मनै घणी ना तंग करै। ना तो थाम जाणो सो।'

'दिखे बेटी मैं तो थ्हारे भले खातर किमे बात कहूं सूं ना तो मेरा के सै।' भरपाई बेजती का घूंट सा भरकै बोली, भरपाई का पूत रामसिंह दोनुआं की बात पै छौ मैं आके बोल्या माफ करो मनै, दुखी होग्या थारे इस क्ळेश तै। सासू-बहू आपणे काम मैं लैग गी। भरपाई सोचण लागी, के मोल सै इस घर मैं मेरा। बहू आण-पाण तारण लाग गी। अर बेटा भी उसकी ओड़ कोणी बडांदा। ना तो जिबेनी बहू नै घुड़क देंदा। भरपाई भीतरो-भीतर घुळण लाग गी।

एक दिन भरपाई पूत तांइ बोली अक बेटा साची साची बता इब तेरी नजरां मैं मेरा अर बहू का के मोल सै? छोरा बोल्या -दिखे मां तू तो मनै सब्जी रोटी बरगी लागै सै, अर बहू हलवे-पूरी बरगी लागै सै। या सुणके भरपाई ने खाट पकड़ ली। तन का रोग तो ठीक हो जाया करै पर मन का रोग ओ भी आपणे कालजे के टुकड़े का दिया होया क्यूकर ठीक होंदा। राम सिंह का बापू भी भरपाई तै पूछ-पूछ कै हैर लिया के मर्ज से भरपाई। किमे नी बतावै बैस बरळ-बरळ रौवे। रामसिंह समझ गया अक उनै जो उस दिन मां का मोल बताया ओ मां के काळजे में कसूता गढ़ गया। रात नै ओ मां के पांव दाबता होया बोल्या - आं री मां क्यू जी माड़ा कर री सै। तू उस दिन दिखै मेरी बात का डूंगा मतलब कोणी समझी। देखे मां हलवे पूरी तै मानस दो दिनां मैं ऐ कणतै जै से, अर रोटी-सब्जी मानस सारी उम्र खावै सै कदे भी कोणी कणतांदा। या सुनकै जणो भरपाई की मरी देही में प्राण घलगे। अर वा बेटे की जाफी भरकै खूब रोई, अब उनै किसी बात का मलाल कोणी था। उती आपणे मोल का बेरा पाटग्या था।